मेरे सपने

[कुछ पावन, मधुर और मा[illegible]क कल्पना-चित्र]

लेखक

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

प्रकाशक

पं० विष्णुनारायण भार्गव

हिन्दुस्तानी बुकडिपो,

लखनऊ.

मूल्य १)

अपने कलाकार बन्धु

श्री अमृतलाल नागर को सप्रेम—

ता० ३१-६-४२
दारागंज, प्रयाग

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

विशेष

कलाकार कभी-कभी उन प्रेरणाओं को भी रूप और प्राण देने की चेष्टा करता है, जो उसके व्यक्तिगत जीवन में घटना के रूप में न आकर भी मानस-क्षितिज में अनायास आजाती हैं। जीवन बदलजाता है—सम्भावनाएँ धूमिल पड़ जाती हैं, किन्तु कुछ मादक क्षण फिर भी सारे इतिहास को उलट-पुलट डालते हैं। यद्यपि वास्तविक जगत् में उनका मूल्य उतना ही रहता है जितना उन तिनकों का जो हवा में उड़ते रहते हैं। कदाचित् वे कुछ उस तरह के स्वप्न होते हैं जो जीवन में कभी देखे तो नहीं गये, किन्तु यह विचार अवश्य उठाते रहते हैं कि काश, वे देखे जाते।

इस संग्रह की कथाओं का मेरे साथ कुछ ऐसा ही सम्बन्ध है।

३१।८।'४२
दारागञ्ज, प्रयाग

—भगवतीप्रसाद वाजपेयी

कहानियाँ

निर्माल्य

मैं यहाँ आकर दो दिन के लिए ठहर गया हूँ। मकान के तीसरे खण्ड के एक सूने कमरे में, तकियों से लगा, बदन पर मुलायम लिहाफ़ डाले, चुपचाप बैठा हूँ। मुझे असल में यहाँ ठहरना नहीं चाहिए था। तो भी इसके लिए विवश कर दिया गया हूँ। मंगल बड़ा ज़िद्दी है। मैंने बहुत कुछ कहा कि यह ठीक नहीं है। मुझे यहीं, अपने इन्हीं साथियों के बीच, रहने दो। कोई कष्ट मुझे यहाँ नहीं है। पर उसने मेरी एक न सुनी। जबर-दस्ती उसने मेरा बिस्तर गाड़ी पर रखवा दिया और हाथ खींचकर वह कहने लगा—"चलिये।"

इस तरह मैं विवश हो गया।

रात को मुझे नींद नहीं आयी। बिल्कुल नहीं आयी, सो बात नहीं है। बस ज़रा-सी आयी थी। फिर चली गयी। सिर में मीठा-मीठा दर्द हो रहा है। आँखों में कड़वाहट भरी है। ठीक यही दशा मेरे मन की भी है। अन्तर में मीठा-मीठा दर्द उठ रहा है। यद्यपि स्पष्ट देख रहा हूँ कि जीवन में कटुता उत्पन्न किये बिना यह रह नहीं सकता। मानता हूँ, यह बुरी चीज़ है। मैं इसे छूना नहीं चाहता, लेना नहीं चाहता। पर यह मेरे पास क्यों आता है ?

हाँ, तो रात को साढ़े आठ बजे की बात है। सिगरेट पीकर उसका अवशिष्ट भाग ऐश-ट्रे में कुचलकर बुझा रहा था कि देखा, द्वार की चिक का परदा उठा है और बिन्दू जैसे विस्मय में हास को लपेटकर लायी है और पूछ रही है—"अरे! आप तो अकेले बैठे हुए हैं! मैं समझी थी, दीदी भी होंगी!"

बस, इतना कहकर वह चली गयी थी।

मैं अवाक् रह गया था। फिर उस स्थिति में जो उसकी ओर देखा, तो वह कुछ लजीली हो चुकी थी और लौट रही थी।

कितनी नन्हीं-सी बात है?—तिनके-सी पतली और ख़याल-सी नाज़ुक। लेकिन कुछ हो, बस गयी मेरे मन में, आ गयी रात को मेरी नींद के पलकों पर और जैसे लिपट-लिपट गयी मेरी नींद के परों से।

भोजन करने के लिए मुझे बीच के खण्ड के कमरे में जाना पड़ा था। वहाँ साथ में और भी कई व्यक्ति थे। मंगल था और उसकी नव-पत्नी पूर्णिमा थी। बिन्दू भी।

यह मंगल की शरारत है असल में। जानता है कि मैं नारी से दूर ही दूर रहता हूँ। प्यार मेरे पास है, तो सुरक्षित रखने के लिए है। धरोहर मैं उसे मानता हूँ। यह चीज़ साधारणतया

किसी को मैं दे नहीं सकता। हाँ, सभ्यता ने शिष्टाचार जो मुझे दिया है, वह ज़रूर मेरे पास है। उसे कोई भी मुझसे पा सकता है। मैं जो यहाँ आ नहीं रहा था, मंगल उसका कारण जानता है। गाड़ी पर मैंने उससे ज़ोर देकर कहा भी था कि वहाँ बिन्दू अगर आ जायगी, तो मैं चला जाऊँगा। मैं नहीं चाहता कि वह आये और मुझे परीशान करे। इस पर वह दुष्ट मुसकराने लगा था। फिर बोल उठा था—मैं नहीं चाहता कि आप अपने को और धोखा दें। तब वहाँ उससे एक झड़प हो गई थी। मैंने कहा था—तो फिर मैं नहीं जाऊँगा। गाड़ी खड़ी कर दो, मैं यहीं उतर जाता हूँ। अगर तुमने गाड़ी खड़ी न की, तो मैं कूद पड़ूँगा। परवाह नहीं, मुझे चोट लग जाय। इस पर उसने वचन दिया था कि वह तो अपने होस्टेल में है। आजकल पढ़ाई के दिन हैं। वह आने क्यों लगी? आप घबरायें नहीं, वह आ नहीं सकती। उसे क्या पता कि आप आये हैं!

इस तरह पहले ही से मैंने सारी बातें पक्की कर ली थीं। लेकिन तो भी मैंने देखा, कमरे में पैर रखते ही जिसने आँखों में मद, देह में वारुणी और अधरों में आह्लाद भरकर मुझसे नमस्ते किया था वह बिन्दू थी।

खाना खाते समय मंगल ने कहा था कि कान्फ़रेंस तो कल समाप्त हो जायगी, किन्तु आपको एक-आध दिन और रुकना पड़ेगा। देश के लिए आपने विचार दिये हैं, स्फूर्ति दी है। उस पर मरना आपने सिखलाया है। मानता हूँ। किन्तु इस चीज़ से परे भी आपके जीवन का एक और पहलू है। और वह है काव्य। देश की समस्याओं का महत्व आज के लिये है। कल के भविष्य में वे केवल इतिहास के लिये रह जायँगी। कवि इस जीवन से ऊपर की चीज़ है। वर्तमान में वह सीमित नहीं रहता। उसकी

वाणी भविष्य के पथ में सदा से आगे ही आगे गूँजती रहती है। एक आवाहन उसमें रहता है; निर्माण का, गति का, जीवन का एक सन्देश उसमें बोलता है। कितने दिन से यहाँ के तरुण ग्रेजुएट आपको बुलाने की बात कहते आ रहे हैं। अब यह सुअवसर वे खोना नहीं चाहते। एक कवि-गोष्ठी वे करना चाहते हैं। आपको सभापतित्व स्वीकार करना पड़ेगा। और स्थानीय कालेज की जो अपनी साहित्य-समिति है, आपको अभिनन्दन-पत्र देने का विचार रखती है।

मंगल की यह बात तो अब जाकर समाप्त हुई, किन्तु बीच में ही बिन्दू पूर्णिमा के कान में फुसफुसायी थी। मैं सुन नहीं सका, क्या कहा था उसने। हाँ, इतना ज़रूर देखा था कि बात कहती हुई वह ज़रा मुस्करायी थी और एक बार तो उसने अपनी उन बड़ी-बड़ी आँखों की कनखियों से मेरी ओर देखा भी था। यों देखने में कोई असाधारणता नहीं है। सभी देखते हैं। किन्तु वह देखना! उस तरह और कोई भी तो मुझे नहीं देखता!

मैंने कहा था—पर मुझे इतना अवकाश कहाँ है! कानपुर में बेकार लोगों की एक सभा हो रही है, परसों ही मुझे उसमें जाना पड़ेगा। मैं रुक नहीं सकता, मुझे बहुतेरे काम हैं।

"तार दे दीजिये कि अस्वस्थता के कारण आना नहीं हो सकता।" पूर्णिमा ने कहा था।

और उठकर बात की बात में टेलिग्राफ़-फ़ार्म को सामने ले आकर बिन्दू कह रही थी, "यह लीजिये। मैंने लिख भी डाला है। आप केवल हस्ताक्षर कर दीजिये। यों साधारणतया हस्ताक्षर, आप के से, कर मैं भी सकती हूँ। लेकिन नहीं, मैं आपको धोखा नहीं देना चाहती।"

है न, यह ग़ज़ब? कितना बाँध रक्खा था इन लोगों ने

मुझे उस समय ? पागल आप मुझे कह लें, अधिकार है आपको ; लेकिन मैं तो इसे लाठी-चार्ज ही कहूँगा।

दूसरे दिन की दोपहर थी। कान्फ़रेंस से लौटकर मैं मंगल के घर—अन्दर—आ रहा था कि एक कमरे में सुनता हूँ—यह फ़ोटोग्राफ मुझे न दे दो जीजी। अच्छा, रहने दो। कौन बहुत अच्छा है ! चद्दर लपेटकर तो खिंचवाया है। मैं इस वेश से नफ़रत करती हूँ। सच, जीजी। इन साधु-संन्यासियों ने हमारे जीवन को विरक्ति ही तो दी है।—वह विरक्ति, जो विनाशमूलक है।

रुके हुए पैर आगे बढ़ गये थे। सोचता था—ठीक तो है। यही तो मैं सोचता हूँ। प्रीति मेरे लिये है कहाँ ? मुझे उसकी जरूरत भी तो नहीं है। मन में इतनी जगह ही नहीं बच रही है कि कोई नया प्राणी वहाँ आ सके और ठहर सके। आँखें फोड़ सकता नहीं। देखना सब कुछ पड़ता है। और नित्य ही तो देखता हूँ कि यौवन नश्वर है, सौंदर्य भी नश्वर है। रह गया प्रेम। सो प्रेम भी तो अस्थिर ही है। आज है, कल नहीं भी रह सकता है। सारी दुनिया ही चल-चित्र है तब प्रेम अलग कहाँ जायगा ? नश्वर ही उसे रहना पड़ेगा और जब जानता हूँ कि इस वस्तु का स्थायित्व कुछ नहीं है, तब मन नहीं होता कि उसे छुआ भी जाय। हाँ, मैं उसे नहीं छुऊँगा। वह चाहे जो कुछ कह ले। मुझे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी है। अब मैं चुप ही रहूँगा। यही मेरे लिये उचित है।

रात जो नींद न आई थी, उसकी पूर्ति करनी पड़ी। भोजन से निपटकर तुरन्त जो शैया की शरण ली, तो नींद आ गयी और पाँच बज गये।

अब मुझे कवि-गोष्ठी में जाना था। समितिवालों ने कान्फ़रेंस के अधिकारियों से मिलकर अपने लिए थोड़ा समय ले लिया था।

संध्या हो ही चुकी थी। इसके सिवा बादल भी कुछ घिर आये थे। उठते ही मैंने सुना, समिति के लोग बैठे हुए हैं। वे गाड़ी ले आये हैं।

सुनकर अपनी स्थिति पर कुछ क्षोभ हुआ। जहाँ समय की इतनी काट-छाँट हो, वहाँ दिन-दोपहर और शाम को सोना! छि: !!

ख़ैर, पाँच मिनट में ही तैयार हो गया।

अब नन्हीं-नन्हीं बूँदें—फुहार—गिर रही थीं और मैं बाहर निकल रहा था। बस, उसी क्षण कानों में कुछ शब्द और पड़ गये—

"जीजी, जीजी, शिवजी जा रहे हैं, कवि-गोष्ठी में। चलोगी नहीं?"

पूर्णिमा ने मेरी ओर देखते हुए कहा था—"मेरी तो इच्छा नहीं है।"

सच पूछो तो पूर्णिमा की यह शरारत थी। जान-बूझकर वह बन रही थी। वह केवल बिंदू का भाव जानना चाहती थी, जो कह रही थी—"मैं तो जाऊँगी। हालाँकि कवियों की अनेक बातों से मुझे सख्त नफ़रत है। गाना-वाना जानते नहीं और आलाप उठाते हैं अनन्त का।······· अच्छा जीजी चलो। चलो झट से। अभी जीजा जी भी खड़े हैं। चलो, तुम्हारे पैर पड़ती हूँ।"

आप कहेंगे—"क्यों साहब, आप तो मकान से बाहर हो रहे थे। चलते-चलते आपने इतनी बातें कैसे सुन लीं?"

आपकी यह शंका उचित ही है। मैं खुद भी अपने आप कम शर्मिन्दा नहीं हूँ। जीवन में कभी ऐसा प्रसंग आया है कि मैंने दूसरों की आँखों में जान-बूझकर धूल डाल दी हो, नहीं जानता। किन्तु उस दिन गाड़ी पर बैठते हुए मंगल ने मुस्कराते हुए कह ही डाला था—"यह आपका पेशावरी चप्पल भी ख़ूब है।"

मैंने जो पूछा—"क्यों ?"—तो उसने कह दिया—"इच्छा-नुसार ही बाधा उपस्थित करता है !"

पाप यह नहीं है, अच्छी तरह जानता हूँ। किन्तु आकर्षण तो यह है ही। कौन इससे इनकार कर सकता है ! तभी सोचता हूँ, मंगल से उस समय घर पर न ठहरने के लिए उतनी ज़िद करना भी व्यर्थ ही था। जब तबियत पर इतना भी अधिकार नहीं है कि अपनी दुर्बलताओं को छिपाकर रख सकूँ, तब राग से इतना परे अपने को देखना और प्रकट करना कोरा दम्भ ही तो है।

मंगल ने तो केवल मज़ाक किया था। उसका अभिप्राय मुझे खिन्न करना नहीं था। किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो सीढ़ी चढ़ता हुआ, पैर फिसलने के कारण, इस बुरी तरह से गिर गया हूँ कि मस्तक फूट गया है और रुधिर जो छलछला रहा है उसके कारण जलन उत्तरोत्तर बढ़ रही है। अब क्षण-क्षण पर यही अनुभव हो रहा था कि कहीं कुछ नहीं है। तुम्हारी ही मन की भावना ऐसी कलुषित है, जो तुम समझते हो कि बिन्दू तुम पर प्राण निछावर करने को उद्यत है। ज़रा-सा हँसकर बात कर लेने मात्र से यह समझ लेना कि वह तुम्हें चाहती है, निरा प्रमाद है। भ्रम है। प्रेम इतना सस्ता नहीं हुआ करता। वह बड़ी मँहगी वस्तु है। उसके लिये उत्सर्ग करना होता है। वह प्राणों के प्रत्येक स्पन्दन से विजड़ित है। जीवन के स्तर-स्तर से वह संलग्न है। घड़ी-दो-घड़ी के आकस्मिक मिलन और क्षणिक आकर्षण रूप में वह जो एक अद्भुत झलक दिखलाई देती है, प्रेम नहीं है। उसे प्रेम नहीं कह सकते। भ्रमित और प्रमाद-ग्रस्त मन का विकार है और है अपनी ही कामना का एक कल्पना-चित्र।

कवि गोष्ठी में कोई उल्लेखनीय बात नहीं हुई। अनेक कवियों

ने अपनी कविताएँ पढ़ी थीं। राजेन्द्र की हासमयी कविताओं पर बड़ा क़हक़हा मचा था। मैं भी हँसी रोक नहीं पाया। मैंने देखा था, पूर्णिमा के कन्धे से लग-लगकर दो नवयुवतियाँ भी रूमाल से मुँह ढँक-ढँककर हँस रही थीं। एक को मैं नहीं जानता; लेकिन दूसरी तो बिन्दू ही थी।

लेकिन बिन्दू का हँसना!……काश उस पर रूमाल का आवरण न होता। तो भी वह अरुणाई तो देखी ही थी और हँसी के अतिरेक से आनन्दाश्रुओं से पूर्ण वे आँखें!……लेकिन मैं यह सब सोचता क्या हूँ, देखता हूँ, यह तो व्यर्थ है न? बिन्दू की वे कजरारी बड़ी-बड़ी आँखें भी तो (……हाँ कहते हुए मैं हिचकिचाऊँगा नहीं डरूँगा नहीं…) नश्वर हैं।

ख़ैर साहब, किसी प्रकार गोष्ठी का कार्य-क्रम किनारे आ लगा। अब केवल मैं रह गया था। अब केशों में सफ़ेदी आ गई है। यद्यपि तबियत में अभी तक वही हरियाली है, वही उपवन और वही भ्रमर-का-सा गुंजन। लेकिन भाई, मैं कह क्या गया? भ्रमर मैं नहीं हूँ। गुंजन भर भले ही अपने को मान लूँ!

हाँ, तो पूर्णिमा बोली—"वही सुनाइये—सूखी माला।"

देखा आपने? सूखी माला पर पूर्णिमा कविता सुनाने को कह रही थी। शायद उसकी दृष्टि मेरे केशों पर जा पड़ी थी। उसने शायद नहीं सोचा, माला सूख ज़रूर गई है; किन्तु ख़ुशबू तो अभी तक उसकी गई नहीं।

ऐसा ही कुछ मेरे मन में आया था। तभी मैं चुप रह गया था, कुछ सोचने लगा था। किन्तु उसी क्षण बिन्दू बोल उठी—"सूखी माला में तो केवल भावुकता होगी आपकी। अपनी इस नवागत माला पर ही न कहिये जो गले में अभी-अभी पड़ी है?"

"आप जानती हैं, मैं आशु कवि नहीं हूँ", मैंने उत्तर देते

किन्तु उसी क्षण विन्दु बोल उठी—"सूखी माला में तो केवल भावुकता होगी आपकी। अपनी इस नवागत माला पर ही न कहिए।"

हुए कहा—"दूसरे, यह नई माला भी अभी क्षण भर की है। क्या मैं कहूँ इस पर ?"

इस पर मेरे अनेक बन्धुओं ने चारों ओर से कुछ कहा।—एक ही कथन याद है—"वाह ! कह तो डाला आपने, और क्या कहियेगा ?"

इस पर गोष्ठी में एक हलचल सी मच गई।

मैं स्वयं तब तक अपने कथन के दूसरे पहलू पर जा नहीं पाया था। किन्तु टिप्पणी सुनकर स्वयं अपने ही प्रति क्षुद्रता से भर गया—जान पड़ा, मैं धूल में मिल गया हूँ। अपने विवेक को आदमी कभी-कभी इस बुरी तरह छोड़ जाता है, पहले कभी सोचा नहीं था। स्पष्ट था कि मुझे शिकायत है। मैं इस नवागत माला को जैसे स्थायी रूप से रखने या पाने के लिए लालायित हूँ ! हाय री मनुष्य-जीवन के अतल में समायी हुई लिप्सा ! मेरा मस्तक इतना उन्नत है कि मैं साहस करके कह सकूँ—मैं तुझसे ऊपर हूँ ?

यद्यपि अपने अन्तःकरण की बात कहूँ, तो कहूँगा कि वास्तव में मेरा भाव ऐसा था नहीं। नहीं जानता, किसकी साक्षी लूँ जो इस समय मेरी स्थिति को एक बार स्पष्ट रूप से प्रकट कर दे।

अस्तु। केवल कर्तव्य भर निभाने के लिए मैंने एक कविता सुना दी और छुट्टी पा ली। कविता थी उस वृद्ध-जन की लकड़ी पर, जो पिछले बीस वर्ष से उसे सहारा दे रही थी, किन्तु आज किसी पशु पर उपयोग किये जाने के कारण, पसलियाँ टूट गई हैं और फलतः कई खपच्चियों में फटी पड़ी है।

गोष्टी से बिदा लेकर चल रहा था। चलते समय एकाएक दृष्टि बिन्दू पर जा पड़ी थी। मुख उसका इस बार उतरा हुआ

था। इतनी गम्भीर मैंने उसे पहले कभी देखा नहीं था। कुछ कुछ आशंका-सी मेरे मन पर उतर आयी लेकिन तो भी मैंने कुछ कहा नहीं।

रास्ते में मंगल मेरे साथ था। गाड़ी वही ड्राइव कर रहा था। सोचता था—मंगल आप ही कुछ कहेगा। किन्तु वह चुप रहा। एक शब्द तक उसने नहीं कहा। यह मेरे लिए एक और उलझन थी। मैं अगर चुप रहूँ, तो इसके तो कुछ अर्थ होते हैं। भाव मेरी गति है और तदनुसार मैं बहता चलता हूँ। किन्तु वह भाव भी तो एक दुर्बलता है, त्रुटि है, जो विचार की छवि नहीं ग्रहण करता चलता। तो जहाँ एक ओर से मैं भाव हूँ, वहाँ दूसरी ओर से मैं विचार भी हूँ। अतएव आत्म-चिंतन मुझमें होना सर्वथा स्वाभाविक है। लेकिन यह मंगल भला क्यों चुप है? एक बार इच्छा हुई, छेड़ूँ इसे; किन्तु फिर सोचा, यह ठीक नहीं है। कोई बात, मेरे सम्बन्ध की, शायद उसके मानस-तल पर तैरती नहीं है। होती, तो वह संकोच त्यागकर आप ही कह डालता।

घर पहुँचने पर मालूम हुआ—बिन्दू अपने होस्टेल चली गयी है। सुनते ही मेरी चिन्ता दूर हो गयी। सोचा, ठीक तो है, उसे अब चला ही जाना चाहिये था।

मेरी गाड़ी रात को ढाई बजे जाती है। इस समय साढ़े ग्यारह बजे हैं, बिन्दू के होस्टेल का नौकर मेरे सामने है और मंगल को एक काग़ज़ दे रहा है।

नौकर काग़ज़ देकर चला गया, तब मंगल ने मेरे निकट आकर कहा—"मुझे आप क्षमा कर दीजिये। ये सारी परेशानियाँ वास्तव में मैंने ही उत्पन्न की हैं। मैं तो पहले ही सोचता था बार-बार मेरे भीतर कोई अँगुली सी कोंच रहा था। बार-बार मैं

सोचता था—कहीं कुछ हो रहा है। और अन्त में मेरा सोचना ठीक निकला। बिन्दू को होस्टेल जाने पर फ़िट आ गया था। अब तबियत ठीक है।"

पूर्णिमा ने झट से वह काग़ज़ मंगल के हाथ से छीन लिया। पढ़कर वह भीतर नहीं गयी बल्कि मेरे ही निकट आकर बैठ गयी। मंगल भी। सब के सब चुप थे। मैं सोच रहा था, मुझे कुछ कहना चाहिये; किन्तु मेरा भी मुंह बन्द था।

अन्त में पूर्णिमा ही बोली—"यह बिन्दू पागल हो जायगी। आख़िर इसका और मतलब क्या है?"

"मुश्किल यह है कि,"—मंगल ने कहा—"बारह बज रहे हैं और होस्टेल उसका यहाँ से तीन मील दूर है। इसके सिवा वहाँ जाना और उससे मिलना भी बड़ा कष्टसाध्य है। जाते हुए तो ऐसी कोई बात नहीं मालूम पड़ी थी।"

पूर्णिमा ने झट से जैसे बात पर झपट्टा मारते हुए कहा—"मालूम क्यों नहीं हुई थी। वह मुस्कराहट तो कोरी बनावट थी। सुना नहीं था? कहती गई थी—'परीक्षा के दिन हैं और कोर्स मेरा अभी पूरा नहीं हुआ है। असल में मुझे आना नहीं चाहिए था। तबियत नहीं मानी, चली आयी। ख़ैर, जीजाजी भी आज रात को चले ही जायँगे। पर, उनसे अब मिलूँगी नहीं। जाती हूँ, नमस्ते।"

मंगल ने कहा—"कहा तो उसने ठीक ही था। हाँ, इतना भर तुम कह सकती हो कि उसके कथन में सचाई नहीं थी।"

पूर्णिमा मेरी ओर देखकर कहने लगी—"और मैं कहती क्या हूँ?"

उस समय हम लोग बड़ी देर तक बातें करते रहे। मेरा हृदय-तल इतना अशान्त था कि मैंने कुछ भी कहना उचित

नहीं समझा। यद्यपि सोचता हूँ कि मुझे अपना अभिमत स्पष्ट रूप से व्यक्त कर देना चाहिये था।

किसी तरह दो घंटे और बीते। पूर्णिमा बोली—"कब आइयेगा?"

मंगल ने कहा—"जाने की जरूरत ही क्या है? बाल-बच्चों को भी यहीं बुला लो। आप एक बिन्दू के लिए रोते हैं। मैं कहता हूँ, नारी मात्र एक है। मैं क़सम से कहता हूँ, आप देख लीजियेगा—सेटफ़ार्म पर इसकी आँखों में····।"

"जी आप मुझे जितना दुर्बल समझते हैं, उतनी मैं नहीं हूँ। लेकिन मान लीजिये कि मैं होऊँ भी, तो आप खुद अपनी क्यों नहीं कहते हैं? (फिर मेरी ओर देखकर) आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि ये दो-तीन दिन तक ठीक तरह से खाना भी नहीं खाते।"

इसी प्रकार की बातें चलती रहीं।

थोड़ी देर बाद मैं ट्रेन पर था। पूर्णिमा भी मंगल के साथ मुझे विदा करने आयी थी। ट्रेन स्टार्ट होने में केवल दो मिनट रह गये थे। नगर कांग्रेस-कमिटी के कुछ सदस्य भी आ पहुँचे थे। मंगल ने कहा—"आपको छोड़ने की इच्छा नहीं होती।"

पूर्णिमा बोली—"मैं पत्र नहीं लिखूँगी; आप ही लिखियेगा।"

एक कांग्रेस-कार्यकर्त्री महिला भी थीं। वे बोलीं—"लेकिन मैं तो आपसे मिल ही नहीं पायी। मेरी चिट्ठी का उत्तर तो दीजियेगा न?"

इसी समय ट्रेन चल दी।

"किन्तु यह क्या अपनी जान हथेली पर रखकर चलती

गाड़ी में यह कौन आ जाना चाहता है।" मैं सोच ही रहा था कि ट्रेन कुछ और मोशन में हो गयी। मैंने देखा कि जल्दी में कुली किसी का बिस्तर गाड़ी में फेंक रहा है।.........मुझे भेजने आये हुए लोग रूमाल हिला-हिलाकर विदाई प्रकट कर रहे हैं।.........लेकिन यह क्या! यह तो बिन्दू ही है, जो लोगों के हल्ला करने पर भी, ट्रेन के साथ दौड़ती और घसिटती हुई, एक डिब्बे का हैंडिल पकड़कर उसके भीतर आ गयी है!

—लेकिन गार्ड अब भी अपनी हरी लालटेन दिखा रहा था।

दुग्ध-पान

गगन उन दिनों कानपुर चला गया था। यों चाहे न भी जाता, पर जब उसे पता चला कि वहाँ स्वदेशो-प्रदर्शिनी होने जा रही है, तब वह अपने नगर इलाहाबाद में रह न सका। उसका मन इतना चंचल हो उठा था।

गगन हमारे आज के जीवन का चित्रकार है। इसीलिये जब कभी उसे जन-समूह में एकाकी घूमने का अवसर मिलता है, तब वह तूलिका और कलरबाक्स एक ओर रखकर चुपचाप सैर-सपाटे को चल देता है। अस्तु, वश रहते इस सुअवसर से, वह कैसे, अपने को वंचित रख सकता था?

हाँ, तो गगन जब उस दिन प्रदर्शिनी घूम चुका, मित्रों से

मिल-जुलकर अपने हृदय पर कुछ धुँधली कुछ सजीव कल्पनाएँ प्रतिष्ठित कर चुका और जब उसने देखा कि अब मेला छूट चला है, कोलाहल मन्द पड़ रहा है, तो वह बाहर चला आया।

उस समय उसकी रिस्टवाच में पौने दस बजे थे और वह मुख्य फाटक एक नीम के पेड़ के पास चुपचाप खड़ा था। बिजली की रंगीन रोशनी चारों ओर जगमगा रही थी। मोटर-गाड़ियों के हार्न, ताँगों के बॅल, इक्कों के 'हटो-बचो' सम्बन्धी विविध प्रकार के कथन, साइकिलों की घंटियों की टुन-टुन-टुनन् और नव-नव आभा मण्डित अनंग लतिकाओं के विविध कल हास उसके कर्ण-रन्ध्रों पर गूँज रहे थे। किन्तु वह गगनबिहारी अब भी उस नीम के पेड़ के नीचे चुपचाप खड़ा था।

अरे उच्छृङ्खल, अब तू यहाँ इस तरह खड़ा क्यों है? क्या देखता है यहाँ? अन्ततोगत्वा क्या कोई तेरी आँखों की पुतलियों में समा गया है? क्या तेरी कोई भूली हुई याद तेरे गले में हाथ डालने को दौड़ी चली आ रही है? क्या तेरे स्वप्नों से खेल करने के लिये, कोई तितली, किसी वृन्त से विरत होकर, तेरी नव-नव कल्पनाओं पर उड़-उड़ जाती है? अरे पागल, यह तेरा बार-बार और इकटक, एक ही दिशा की ओर, दृष्टि-क्षेप शोभा देता है? कोई तेरा आदरणीय गुरुजन जो तुझे इस रूप में देख पाये, तो क्या कहे, रे आवारे!

अरे! लो, वह उसी ओर बढ़ गया और जाकर खड़ा हो गया उस पान की दूकान पर। पैसा भी उसने एक निकाला और भीगे मलिन रंगीन कपड़ेवाले तख्ते पर रख दिया। लेकिन मैं आपको धोखे में नहीं रखना चाहता। गगन एक नम्बर का शैतान है। देखो न, कह रहा है कि आप मुझे थोड़ी देर खड़ा ही रहने दें, पान मैं नहीं खाऊँगा। पान लगाने में जितनी देर

लगा करती है, उतनी देर तो मैं खड़ा रहने का अधिकारी हूँ ही। पैसा आप ले लें।

"आप मुझे अजाब क़िस्म क आदमा मालूम पड़त ह।"

"हो सकता है।"

"हो क्या सकता है? लीजिये पान और अपना रास्ता नापिये।"

"लेकिन इसमें बिगड़ने की कौन सी बात है? एक पैसे के पान लगाने भर का समय हो चुका हो, तो यह दूसरा पैसा फिर तीसरा पैसा लीजिये और इसी तरह मुझे खड़ा रहने दीजिये। आपको तो पान की बिक्री से मतलब है। किसी व्यक्ति को, जो पान लेना चाहता है, आप यहाँ खड़े रहने से रोक नहीं सकतीं।।"

दो पैसे उसने जेब से निकालकर और दे दिये। दे क्या दिये, उसी तख्ते पर रख दिये।

"अब मैं आपको यहाँ खड़ा भी न रहने दूँगी। आप पान खाना भी चाहें, तो भी नहीं। आप आदमी नहीं, जानवर हैं। आख़िर आपका इरादा क्या है?"

"ख़ैर, थोड़ी देर के लिये आदमी से जानवर बन जाना भी मुझे स्वीकार है। लेकिन यह मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मेरा कोई ऐसा इरादा नहीं है, जो आपकी हैसियत और प्रतिष्ठा के विरुद्ध हो! मैं तो केवल आपका हाल जानना चाहता हूँ— आपके घर चलना चाहता हूँ।"

"अच्छा तो यह बात है! आप पागल हो गये हैं। जाइये, अब तशरीफ़ ले जाइये। आपके पागलपन की दवा मेरे पास नहीं है।"

विवश होकर गगन अपना-सा मुँह लेकर चल दिया। अपने होटल की ओर चलता हुआ वह चुपचाप सोच रहा था—बात-

चीत में उसने कोई ग़लती तो की नहीं, कोई ऐसी बात भी उसने जान-बूझकर नहीं की, जो इस पानवाली के हृदय पर चोट पहुँचाती; यद्यपि वह बराबर देखता रहा है कि बहुतेरे लोग उससे पान ख़रीदने, केवल उसे देखने और अपनी आँखों का प्रमाद शान्त करने की इच्छा से ही जाते हैं। लेकिन उन लोगों के असंगत हास का उत्तर उसने सदा मूक और गम्भीर रहकर दिया है। अवस्था उसकी ऐसी अधिक नहीं हुई है; देह-यष्टि की कमनीयता में भी अभी कोई विशेष शिथिलता नहीं आई है; वर्ण भी उसका कम उज्ज्वल नहीं है, तब यह पानवाली कैसे हो सकती है! इसका जीवन-व्यवसाय यह कभी हो नहीं सकता। यह तो किसी सम्भ्रान्त परिवार की नारी है—दुखिया नारी! ओह कितना दर्प है उसकी वाणी में। भाषा भी उसकी साफ़-सुथरी है।....लेकिन मैं निराश होना नहीं चाहता। मुझे एक बार फिर उससे इसी तरह पेश आना पड़ेगा; परिणाम चाहे जो हो।

× × ×

तीन दिन बाद।

आज फिर गगन पान की उस दूकान पर जा खड़ा हुआ। लेकिन आज उस दिन की तरह पौने दस बजे न जाकर वह गया वहाँ ठीक ग्यारह बजे, जब जन-समूह बहुत कम हो जाता है और दूकानदार दूकान बढ़ाने लगते हैं।

पानवाली देखते ही पहचान गयी। गम्भीरता भी उसकी थोड़ी शिथिल जान पड़ी। होठों पर मन्द-हास की रेखा भी क्षण भर के लिये झलक उठी। बोली—आप फिर आ गये!

गगन बोला—हाँ, आना ही पड़ा।

"लेकिन" कहती हुई पानवाली पुनः रुद्र गम्भीर होकर

बोली—आखिर आपका इरादा क्या है ? क्यों आप मुझे तंग कर रहे हैं ? मेरे पीछे पड़कर आप पायेंगे क्या ? पान तो आप खाने आते नहीं।

गगन ने पैसा तख्ते पर रखते हुए कहा—मैं उतनी ही देर खड़ा रहूँगा, जितनी देर आपको पान लगाने में लगती है, जिसमें आपकी पान की बिक्री में कोई हर्ज न हो।

वह बोली—आज मैं पैसा आपका छुऊँगी भी नहीं। पान आप चाहे जितने खाइये।

"वास्तव में मैं पान खाने नहीं आता" गगन बोला—"मैं तो केवल आपको देखना चाहता हूँ—आपके जीवन को। कहाँ आप रहती हैं, किस तरह जीवन व्यतीत करती हैं, कैसे आपके दिन कटते हैं और आपकी दुनियाँ कैसी है।"

अब पानवाली ने पान लगाना बन्द करते हुए अवाक्, अस्थिर और विस्मयाकुल दृष्टि से गगन की ओर देखा। फिर वह बोली—देखने में तो आप एक सभ्य और पढ़े-लिखे व्यक्ति जान पड़ते हैं; फिर यह सनक आप पर कैसे सवार हो गई ? क्या आप सी० आई० डी० के आदमी हैं ?

"नहीं, आप ग़लत सोचती हैं। मैं तसवीर बनाता हूँ, जीवन की सच्ची तसवीर। मैं मनुष्य के अन्तर का चितेरा हूँ। मैं कोई जासूस नहीं हूँ। और अगर आपने कभी एक क्षण को भी सोच लिया कि मैं कोई आवारा आदमी हूँ, तो यह आपकी भूल होगी—नादानी।

पानवाली चुप हो रही।

फिर वह बोली—सात वर्ष का यह मेरा बच्चा सो रहा है। घर भी मेरा पास ही रोटीगोदाम मुहल्ले में है। इस समय मैं मिस्टर वांचू नामक एक महाशय की रखेली हूँ। आपसे मैं उन्हें मिला दूँगी।

अब उस पानवाली का मुख उतर गया था, आँखें कुछ सजल हो आई थीं और कण्ठ की आर्द्रता स्पष्ट होने लगी थी।

गगन ने कहा—आपको किसी तरह का कष्ट देने का इरादा मेरा क़तई नहीं है। आपके प्रेमी या पति से भी मिलने की मेरी इच्छा नहीं है। यों अगर वे मिल ही जायँगे, तो मुझे कोई संकोच न होगा, न उन्हें देखकर मैं यकायक भयभीत ही हो उठूँगा। मैं तो केवल आपको देखना और जानना चाहता हूँ।

अब पानवाली ने कहा—तो फिर आपको ज़रा ठहरना पड़ेगा। मैं दूकान बढ़ाकर अभी घर चलती हूँ।

× × ×

मकान बहुत गन्दा है। सील बहुत है, ज़मीन कच्ची। हवा भी साफ़ और शुद्ध नहीं आ पाती है। धूप के दर्शन इस मकान में भला क्या होते होंगे? कमरे में जो एक खिड़की है, वह पीछे की गली में पड़ती है, जिससे नाली की बदबू आती है।

पानवाली बोली—पहले मैं चाहती हूँ कि आप कुछ भोजन कर लें।

"नहीं, मैं भोजन करने यहाँ नहीं आया। आप व्यर्थ के शिष्टाचार और संकोच-विचार में न पड़ें। यह चीज़ मुझे नहीं चाहिए।

"लेकिन जब आपने इतनी तकलीफ की है।" पानवाली बोली—तब बिना कुछ खिलाये मैं आपको जाने दूँ, यह मुझसे न होगा। पड़ोस के एक घर से बायने में बूँदी के ये चार लड्डू आये थे, आप इन्हीं को स्वीकार कीजिये। देखिये, अब इनकार न कीजियेगा। मैं नहीं जानती थी कि आप उन लोगों में से नहीं हैं, जो कुत्तों की तरह आज भी मेरे पीछे चक्कर लगाया करते हैं, जब मैं अपना सब-कुछ खो चुकी हूँ। मैं नहीं जानती

थी कि आप चित्रकार हैं। मैंने आपको सख़्त-सुस्त भी बहुत कुछ कहा है। अब अगर आप मेरी इतनी सी प्रार्थना भी स्वीकार नहीं करेंगे, तो मेरे हृदय को कितना दुःख होगा, यह आप सोच ही सकते हैं।

गगन बोला—लेकिन मैं सोचता हूँ कि यही मिठाई, अगर आप, मेरी ओर से, इस बच्चे को, नाश्ता के लिए रख लेंगी, तो मुझे उससे अधिक प्रसन्नता होगी, जो इस समय आपके इस आतिथ्य को स्वीकार कर लेने पर होती।

किन्तु उसने कहा—ऐसा नहीं हो सकता। आपके जो तीन पैसे मेरे पास जमा हैं, उनको अभी मैं गली की उस नाली में फेंक दूँगी और लाचार होकर आपसे भी कहूँगी कि अब आप मेरे ऊपर दया करके यहाँ से बिदा हो जाइये। एक दिन था, जब आप अगर मेरे मकान पर आ जाते, तो जानते कि कहीं पहुँचे हैं। तब आपको मेरी उस नारी के जीवन के साथ मज़ाक करने का साहस न होता। लेकिन अब तो वह स्वप्न भंग हो गया है।

"हाँ, बस, इसी तरह आप मुझे अपने उस स्वप्न की बात बतला दें। रुकें नहीं, बीच में कोई विराम भी न आने दें। स्वप्न ही मुझे चाहिए। यह दुनियाँ भी एक स्वप्न है। मैं स्वतः भी एक स्वप्न हूँ। इस विराट विश्व की समस्त सत्ता में मैं एकमात्र स्वप्न ही सदा देखता हूँ। मैं चाहता हूँ कि आप अपने उस स्वप्न को भग्न या विनष्ट हुआ मानकर अपने तईं अविश्वसनीय न बनें। मैं इस स्वप्न-जाल के सारे ताने-बाने में एक बार उलझ जाना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि उलझ-उलझाकर उस महास्वप्न में अपने आपको भी लीन कर दूँ। दुःख और उसके अगाध को मैं नहीं मानता। फूल और उसकी पंखड़ियों को जब मैं टहनी में खिलखिलाता हुआ देखता हूँ, तब मुझे पूर्ण प्रसन्नता नहीं होती।

पूरी प्रसन्नता मुझे तब होती है, जब मैं पुष्पों के दल को पृथ्वी के कण-कण में मिला हुआ, समाया और मिट गया हुआ देखता हूँ। मैं तब उस रेणु को चूम लेना चाहता हूँ। दुःख को निःश्वास का रूप देने में जीवन की शोभा कहाँ है! आप अगर उस समय राजरानी भी होतीं, तो मैं आपकी ओर दृष्टि तक डालना सम्भव है, स्वीकार न करता। आप इस बात को सदा के लिये भूल जायँ कि आप क्षुद्र हैं। सबसे बड़ा सौभाग्य आपका यह है कि आप में मानवता है। मैं विश्वात्मा को अलग से नहीं देखता; वह अलग है भी नहीं। मैं तो उसे विश्व में ही देखता हूँ। मनुष्य में अगर कुछ बुराइयाँ और कमजोरियाँ भी हैं—अनेक भलाइयों और सद्गुणों के साथ-साथ; तो मेरे लिये वह बन्दनीय है। उसका अन्तर मेरा दर्पण है। मैं उसमें अपने आपको देखना चाहता हूँ।

अब पानवाली बोली—मैं एक विधवा नारी हूँ। मेरे भाल की बिन्दी विधाता ने उसी समय पोंछ ली, जब मैं अपने आपको समझ तक नहीं पायी थी। मेरी अवस्था उस समय केवल अठारह वर्ष की थी। स्वामी एक मामूली से नगर...में स्टेशन-मास्टर थे। वे उस समय पैंतालिस वर्ष के थे। चाहते थे कि मुझे सब तरह से सुखी और सन्तुष्ट बनायें, किन्तु वे अन्त तक असफल ही रहे। मैं एक कुलीन परिवार में पली थी। साधारण रूप से मेरे पिता एक अच्छे सम्पन्न व्यक्ति थे। हिन्दी मिडिल पास कराने के बाद उन्होंने मुझे अंग्रेजी भी आठवें क्लास तक पढ़ाई थी। तो भी जैसा स्वस्थ और स्वरूपवान वर वे मेरे लिये चाहते थे, जब उन्हें अपने सामर्थ्य के अनुकूल नहीं मिला, तो विवश होकर उन्होंने मेरा विवाह ऐसी जगह कर दिया, जहाँ सांसारिक वैभव की कोई विशेष कमी नहीं थी। स्वामी भी शरीर देखते हुए न तो

कुरूप थे, न वृद्ध और न अशक्त ही जान पड़ते थे। स्वभाव से भी वे बड़े उदार थे। मेरा रुख़ देखकर चलते और मेरी प्रसन्नता में अपना सुख मानते थे। किन्तु आप जानते हैं, खाना-पीना, कपड़े-लत्ते और धन-दौलत ही नारी-हृदय को जीतने के लिए काफ़ी नहीं है। एक अवस्था होती है, जब उसका हृदय अपने स्वामी में उस यौवन को भी प्राप्त करने को लोलुप हो उठता है, जो आँधियों से खेलने का सामर्थ्य रखता हो। मेरे स्वामी में अब यह चीज़ नहीं थी। उनके यौवन का दानव शान्त हो चुका था। यह मैं उस समय पाप और पुण्य, स्वर्ग और नरक, प्रकाश और अन्धकार, काला और उजला, सत्य और असत्य, मतलब कि जीवन और संसार के सारे भेदाभेद से परे अपने को देखती थी। मैं नदी बन रही थी और बहते जाना ही मैंने सीखा था। बचपन से मैं रोना नहीं जानती थी, हँसना ही मैंने सीखा था। रात जगते कट जाती थी। खाने-पीने में तबियत नहीं लगती थी। मैं चाहती थी कि मर जाऊँ; लेकिन मेरे सिर में दर्द तक पैदा न होता था। मैं हँसती थी, लेकिन मेरी उस हँसी के भीतर एक कराह छिपी रहती थी। मैं स्वामी को प्यार करना चाहती थी। मैं चाहती थी कि वे भी मुझे प्यार करें—इतना कि हम दोनों में कोई भेद न रह जाय। किन्तु अब वे मुझ से मिलते और बात करते लजाते थे, मुझे देखकर उन्हें एक तरह का भय-सा लगता था। वे भीतर से काँप उठते थे। पर मैं उनके इस रूप को देख-कर भी उन्हें समझ न पाती थी। अगर मैं जान सकती कि उनमें अभाव की व्यथा है, वे अब पछता रहे हैं, तो सच कहती हूँ, मैं ज़हर खाकर प्राण दे देती। किन्तु मैंने कुछ और समझ लिया था। मैं सोचती थी, कदाचित् मैं उतनी सुन्दर नहीं हूँ, जितनी वे मुझे देखना चाहते थे।

दिन चलते गये, और मैं उनसे दूर होती गई।

"स्वामी के मित्रों की कमी नहीं थी। नित्य उनकी बैठक ऐसे लोगों से भरी रहती, जो एक नम्बर के हँसोड़ और आवारे थे। वे नित्य नया-नया रूप बदलकर आते और जान-बूझकर ऐसे प्रस्ताव करते, जिनसे परदा तोड़कर मुझे उन लोगों के सामने निकलना, घूमना, बैठना और बातें करना आवश्यक हो जाता था। कुछ दिनों तक वे बराबर उन प्रस्तावों को टालते रहे। पर एक दिन उन्हीं लोगों में से एक—मिस्टर वांचू—ने अपने यहाँ हम लोगों की दावत कर दी। मैं उसमें शामिल होना नहीं चाहती थी; पर उन्होंने मुझे चलने के लिए विवश कर दिया।

"जीवन में वह पहला दिन था, जब मैं एक पर-पुरुष के सामने आयी। मिस्टर वांचू अविवाहित थे और उनका शरीर भी बहुत गठा हुआ और सुन्दर था। गायन और वाद्य-कला में भी वे यथेष्ट दक्ष थे। उस दिन खाना-पीना समाप्त हो जाने के बाद फिर कन्सर्ट-पार्टी जमी। मिस्टर वांचू ने कुछ ऐसे गाने गाये कि मैं उस समय हृदय से उनकी हो गयी। मैं भूल गयी कि मेरी भी कोई मर्यादा है। मैं यह भी भूल गयी कि मेरी भी कोई सीमा है। मैं इस जगत और जीवन को असीम देखने लगी। मैं यह भी भूल गयी कि मेरा भी एक ऐसा समाज है, जिसकी ओर से आँखें फिराकर चलने में मेरी कुशल नहीं है। मैं ईश्वर की उस विराट शक्ति को भी भूल गयी, जिसके नीचे यह सारा जगत है, यह तारों से भरा आकाश, यह फूलों और पत्तों से भरा वन। जिसकी इच्छा के बिना पत्ती भी नहीं हिल सकती, जिसके संकेत के बिना पीपल का वह बीज मिट्टी है, जो पनप जाने पर महाकाय वृक्ष हो जाता है।

"फिर क्या था! दिन चल रहे थे और दिनों के साथ-साथ

मैं भी चल रही थी। दिन बदल गये थे और उनके पीछे मैं भी बदल चुकी थी। किन्तु स्वामी से यह भेद कितने दिनों तक छिपा रहता ! आदमी दूसरों से चाहे अपने को छिपा भी ले, किन्तु अपने आप से कैसे वह छिप सकता है। स्वामी पाकर नारी अपने को पूर्ण करती है। वैसे वह अधूरी चीज़ है। सो मैंने जो चोरी की थी उनसे, जो छिपा रक्खा था उनके निकट पहुँचने को, वह एक दिन उनके सामने प्रकट होकर ही रहा।

"लेकिन मैं विवश थी। शेरनी की जिह्वा से ख़ून लग चुका था। पहले वासना मेरे भीतर थी और मैं उससे समझौता कर लेती थी। पहले ख़ून को मैं दूर से देखती थी और उससे आँखें फेर लेती थी। लेकिन अब क्या करती ! अब तो वासना मेरी रग-रग में फैल चुकी थी। अब तो ख़ून को बराबर मैं चाटती ही जा रही थी, चुसकी ही लेती जा रही थी। मेरे मन में अब मैल नहीं था, लज्जा नहीं थी। झिझक मिट चुकी थी। पाप मेरे सिर पर चढ़कर बोल रहा था। पहले जो शैतान मेरे भीतर था, वह अब मेरे विचारों में ही नहीं, आँखों की पुतलियों, भृकुटियों के चाप, मुख की रेखाओं और वाणी पर भी सवार हो बैठा था।

"एक दिन, जब रात के दस बजे थे, वे पलँग पर लेटे हुए सोने जा ही रहे थे, कि मैं उन्हें दूध पिलाने गयी। नित्य का नियम था कि दूध-भरा कटोरा वे सदा मेरे हाथ से ही पीते थे। और अन्तिम घूँट के साथ तो वे मेरी ओर इकटक देखते भी थे। उस दिन कुछ ऐसी बात हुई कि मैं उनकी उस दृष्टि को देख कर डर गयी। वे बोले—अब इस कटोरे के दूध में (धीरे-धीरे) कड़ुवापन ख़ूब गहरा आ गया है !

"मैं समझ न पायी कि वे कह क्या गये ! बोली—नहीं तो, कड़वापन कहाँ से आ सकता है ! मैंने अपने हाथों से साफ़ चीनी

वे बोले—"अब इस कटोरे के दूध में धीरे-धीरे कड़ुवापन खूब गहरा आ गया है!"

मिलाई है। किसी दूसरी चीज़ का एक तिनका भी नहीं पड़ने पाया है। तुमको भ्रम हो गया है।

"वे और गम्भीर हो गये, ऐसे कि उनकी आँखें बाहर निकल पड़ना चाहती थीं; भौंहें ऊपर-नीचे हो रही थीं और होंठ फड़क रहे थे। लेकिन कण्ठस्वर उनका वैसा ही शान्त था। भीतर की धधकती ज्वाला को जैसे वे पी रहे थे और मैं समझ रही थी कि उन्होंने बात खूब तौल कर कही है।

"वे बोले—मैं सब कुछ जान गया हूँ। तुमने बड़ी भारी ग़लती की है।"

अब मैं क्या करती? जवाब ही मेरे पास क्या था! लुट तो मैं चुकी ही थी, स्वीकार कैसे न करती! मेरी मनुष्यता इस तरह अभी नहीं मर पाई थी कि उनकी दृष्टि की उज्ज्वलता पर धूल डालने की व्यर्थ चेष्टा करती। अनायास मेरे मुँह से निकल गया—"हाँ, ग़लती तो हो गयी।"

"अब वही बतला रही हूँ। आप अधीर इतने क्यों होते हैं!

"कुछ कम सवा लाख रुपये मिस्टर वाञ्चू के हाथ लग गये थे। बैंक में जमा हुआ यह सारा का सारा रुपया स्वामी मेरे नाम कर गये थे। बच्चे के नाम थी वह पालिसी, जिसका निर्वाह वे अपने जीवन-बीमा के रूप में कर रहे थे। एक साथ इतना रुपया प्राप्त हो जाने के कारण मिस्टर वाञ्चू खूब खुलकर खेले। बंगला और मोटर तो ख़ैर आज के लिए साधारण बात है। सिनेमा की अभिनेत्रियों के साथ रास-लीला करने से भी उन्होंने अपने आपको वंचित न रहने दिया। मैंने भी उनकी इच्छाओं का विरोध नहीं किया। सदा मैं यही सोचती रही कि जिसके साथ रहकर मैंने अपने जीवन की पूर्णता का अनुभव

किया, जिसके प्रेम पर मेरे स्वामी तक ने अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दी, उसका हाथ धन की लूट के नाम पर अब मैं क्या रोकूँ! यह चीज़ मुझे बहुत क्षुद्र जान पड़ी। लड़के के नाम जो दस हज़ार रुपया है वह सुरक्षित है, और वयस्क हो जाने पर वह एक मात्र उसका है। मैं किसी तरह से अपने दिन काट ही लेती हूँ।

"रह गये मिस्टर वाझ्व, सो अब उनका भी नशा उतर गया है। पास ही रहते हैं। महीनों दर्शन नहीं होते। जब कभी रुपये की आवश्यकता अधिक आ पड़ती है और दैनिक जीवन का आवश्यक खर्चा भी नहीं पूरा कर पाते, तभी अकसर आ जाते हैं। मैं भी सोचती हूँ कि जो बच रहा है, वही कौन कम है। थोड़ी-सी ज़िन्दगी और बची है। स्वामी के साथ प्रवञ्चना करके तो मेरी यह दुर्गति हुई, अब प्रेमी के साथ भी छल करूँ, तो उनके सामने क्या मुँह दिखलाऊँगी, जो किसी-किसी को न देखने की इच्छा रखते हुए भी आख़िरकार देखते तो सबको हैं ही। अपराधी तो सदा अपराधी ही है, जज भी जिनके समक्ष अभियुक्त के रूप में हाथ बाँधे चला आता है।

आत्म-ग्लानि में डूबी, आत्म-दग्ध गौतम नारी-सी वह पानवाली सिसक-सिसककर रो उठी थी।

मर्माहत गगनविहारी अब उठ खड़ा हुआ। बोला—बस अब मुझे आज्ञा दीजिये।

पानवाली रोते-रोते बोली—बस एक बात और सुने जाइये।

गगन बोला—कहिए, कहिए, जल्दी कह डालिये।

तब पानवाली बोली—उन्हें स्वाभाविक मृत्यु नहीं मिली थी। दुग्ध-पान से पूर्व ही वे विष-पान कर चुके थे।—सभी कुछ समाप्त हो चुका था। यहाँ तक कि वसीयतनामा लिखवाकर उसकी रजिस्टरी भी करा चुके थे।

और एक दिन गगनबिहारी ने देखा कि बिखरे बालों और फीकी आँखों में बाहर खड़े हुए बांचू अपने कुरते से पानवाली के बच्चे के आँसू पोंछ रहे हैं। लड़का सिसक रहा है। पूछने पर मालूम हुआ कि पानवाली एक पड़ोसी युवक के साथ रात से ग़ायब है।

इधर गगन के हाथ से अचानक एक अधूरा चित्र पत्थर से टकराकर फट गया है और चित्र की टेढ़ी-मेढ़ी छिन्न रेखाओं में पानवाली की शत-शत आकृतियाँ हँस रही हैं।

पैरवी

"वर्षों बाद फिर तुम्हारे घर आ गई हूँ ; सो भी दो-चार दिन के लिए। सोचती हूँ तुमको असह्य न होगा। कष्ट तुम्हें हो सकता है ; लेकिन ऐसा कष्ट तो तुम सहन कर सकते हो—किया भी है तुमने। तो भी इतनी सफ़ाई दे देना चाहती हूँ कि तुम्हें कष्ट देना मुझे मेरा कभी अभीष्ट हो नहीं सकता।"

बात कहकर अरुणा इन्द्र के ड्राइङ्ग-रूम को पार करती हुई घर के अन्दर चली गई। न इन्द्र ने कोई उत्तर दिया, न अरुणा ने उसकी प्रतीक्षा ही की। इन्द्र के मुँह में सिगार था और वह अब भी उससे धूम्र-पान कर रहा था।

थोड़ी देर में मुंशीजी के साथ कई मुवक्किल आ गये और

इन्द्रशङ्कर उनसे बातें करने और मिसलें देखने में लग गया। अदालत का एक चपरासी सम्मन लेकर आया और थोड़ी देर बाद वह भी चला गया। साढ़े नौ बजते ही नौकर ने आकर सूचना दी—'सरकार को माँ जी याद कर रही हैं।' लेकिन इन्द्र तो मिसिल देखने में लगा था। उसे इतना अवकाश कहाँ था कि ऐसी साधारण बात की ओर ध्यान देता। इसलिए धिरवा ने फिर कहा—"सरकार को माँ जी ने याद किया है।"

इन्द्र ने सिर ऊपर उठाकर कुछ रुखाई के साथ कह दिया—"सुन लिया!"

धिरवा अन्दर जाने लगा तो इन्द्र ने बुलाकर कहा—"धिरवा!"

"सरकार।" (शब्द के साथ) वह सामने था।

"खाना लगा कर यहीं लाना होगा, बग़ल के रूम में। समझा कि नहीं?"

"समुझ गयौं सरकार।"

धिरवा चला गया।

दस बज गये और इन्द्र कोर्ट के लिए तैयार हो कर जब पोर्टिको की ओर बढ़ने लगा तो कुछ सोचकर फिर उन्हीं पैरों धड़धड़ाता भीतर चला गया। सरस्वती रसोईघर में खाना खा रही थी। इन्द्र उसी रसोईघर के द्वार पर जा पहुँचा। एक क्षण रुका और फिर बोला—"अरुणा शायद दो-चार दिन रहे। पर मुझे एक केस के सम्बन्ध में पटना जाना पड़ेगा। कोर्ट से सीधा ही स्टेशन चला जाऊँगा। समझ में आया कि नहीं?"

सरस्वती उठकर खड़ी हो गई। बोली—"समझ में तो आ गया, लेकिन अभी कल तक तो............।"

"बट. डोन्ट यू थिङ्क दैट.......याने तुम यह क्यों नहीं सोचतीं

कि तुम्हारे सामने सफ़ाई देने की अपेक्षा अदालत के सामने अपना यह जौहर दिखलाना मेरे लिए अधिक आवश्यक है। समझ में आया कि नहीं ?" फिर नौकर को पुकारा—"अरे घिरवा !"

और घिरवा सामने आ पहुँचा।

"देख, ये जो एक नई मैडम आई हैं, इनको किसी तरह की तकलीफ़ न होने पाये। समझा कि नहीं ?"

"समुझ गयों सरकार।"

और इसके बाद इन्द्र झट से बाहर आकर कार पर बैठ गया।

× × × ×

साथ में खाना खाती हुई अरुणा कह रही थी—"मैंने आकर नाहक तुम लोगों के आनन्द में विघ्न डाला।"

"विघ्न !"—आश्चर्य के साथ सरस्वती ने कहा—"इससे बढ़कर मेरा सौभाग्य ही और क्या हो सकता है कि मैं तुम्हारी कुछ सेवा करने का अवसर पाऊँ। मन्नी अभी तीन वर्ष का है। आशीर्वाद दो जीजी कि वह बड़ा होकर, पढ़-लिखकर, अपनी असली माँ को पहचान सके। कर्म की रेख जीजी कौन मिटा सकता है ? लड़ाई-भिड़ाई की बात न होती, तो आज इस घर की एकमात्र अधीश्वरी तुम ही तो होतीं जीजी ! बार-बार सोचती हूँ, कई बार उनसे कह भी चुकी हूँ ; लेकिन फिर यही सोच कर चुप रह जाती हूँ कि अब इतनी दूर आकर कैसे लौटूँ—कैसे तुम्हें पाऊँ !"

मुँह का कौर जैसे मुँह में रह गया हो। अरुणा बिलकुल उसी तरह सरस्वती की ओर देखती रह गई। सत्य-कृष्ण उसने कुछ नहीं कहा। कौर निगलकर गिलास भर पानी पीकर वह जो खाना समाप्त होने का-सा भाव दिखाने लगी, तो सरस्वती

बोली—"यह न होगा जीजी। तुम्हें मेरे सिर की क़सम है, खाना भर पेट खाकर उठो। दो-चार दिन की बात क्या है, तुम सदा के लिए यहीं रहो।"

"ऐसा नहीं हो सकता सरो! मैंने जो कुछ भी किया, अथवा उनसे जो कुछ भी मिला, मुझे उसके लिए कोई दुःख नहीं है। जैसा जीवन मैंने बना लिया है, वह मेरे लिए पूरा है। उसमें अब कहीं कोई रेखा नहीं है—साँस नहीं है। यहाँ तक कि कहीं कोई छिद्र भी तुम उसमें पा न सकोगी। रह गई बात यहाँ आने की; सो मानती हूँ कि यह मेरी कमज़ोरी है।"—अरुणा बोली।

"ख़ैर, इस समय यह सब रहने दो। बातें फिर हो लेंगी। जी को इस तरह भारी न करो जीजी! तुम्हारे पैर पड़ती हूँ, इतनी जल्दी खाने पर से न उठो। कुछ थोड़ा तो और खा लो।"

लेकिन अरुणा फिर खाने में लग नहीं सकी।

× × × ×

अब अरुणा लेट रही थी। रात भर की वह हारी-थकी थी। पिछले तीन दिनों से वह यहाँ आने का निश्चय कर रही थी। नित्य ट्रेन-टाइम बराबर आगे बढ़ता जाता था। पहले उसने तय किया था कि पत्र डाल देना ठीक होगा। कई पत्र लिखे भी, पर उन्हें पोस्ट न करवा सकी। यहाँ तक कि अन्तिम पत्र तो स्कूल की नौकरानी से छीनने के लिए उसे अपने कॉटेज से एकाएक उठकर भागना पड़ा था। किन्तु अन्त में फिर एक दिन पूर्व उसने एक तार दे दिया था।

बाहर से अलसी ख़स की टट्टियों पर पानी छिड़क रही थी, भीतर से पङ्खा मन्द गति से चल रहा था। डेढ़ बजे एकाएक अरुणा की आँख खुल गई। वह उठी, देखा—सरस्वती सो रही है

और मन्नी उसके कन्दुक-स्तनों में मुँह लगाये खेल रहा है। एक नि:श्वास लिया उसने ; फिर उठकर खड़ी हो गई। धीरे से एक किवाड़ खोलकर जो उसने बाहर देखा, तो उसे पता चला कि आग बरस रही है। एक-दो करते-करते कई गरम तमाचे-से लगे कनपटी जलने सी लगी। फिर उसने देखा, अलसी टट्टियों पर पानी छिड़कने में लगी है। और कहीं कोई दीख नहीं पड़ा। बाहर लॉन पर साया में जीभ निकाले बड़े-बड़े मुलायम बालों का कुत्ता बैठा हाँफ रहा है। सड़क पर एक साधारण-सा इक्का खटर-खटर चला जा रहा है। उसके मन में आया, वह चुपचाप इसी पर जाकर बैठ जाय ; किन्तु फिर क्षण भर ठहरकर वह भीतर आ गई। कुण्डी भी उसने धीरे से बन्द कर ली। पर भीतर आकर भी वह खड़ी रही उस द्वार पर ही, जहाँ से उसे मन्नी दूध पीता हुआ दीख पड़ रहा था।

इसी समय सरस्वती सँभलकर उठ बैठी। बोली—"आओ बैठो, खड़ी क्यों हो?"

अरुणा खड़ी रही। बोली—"बैठूँगी, लेकिन पहले अलसी को छुट्टी दे दो। लू कैसी भयानक चल रही है और वह बेचारी....। और यह पङ्खा भी मैं सह नहीं सकती। बात यह है कि चालीस रुपये की मास्टरी में इलैक्ट्रिक-फ़ैन तो मैं लेने से रही।'

सरस्वती जैसे अप्रतिभ हो गई। पहले तो उसने मन्नी को गोद से अलग किया, फिर उठकर पङ्खे को बन्द करने के लिए बढ़ी; किंतु उसी क्षण अरुणा बोली—"अच्छा चलने दो; मुझे ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं है। तुम्हारे आनन्द, तुम्हारे सुख में व्याघात करनेवाली मैं कौन होती हूँ?"

वह पास ही आकर बैठ गई। बोली—"मुझे क्षमा कर देना सरो! मैं तुम्हारे साथ अन्याय कर रही थी।"

सरस्वती ने इस बात का भी कोई उत्तर नहीं दिया। मन्नी को गोद से हटाकर उसने कहा—"इनके पास जा! यही तेरी असली अम्मा हैं।"—और उसने मन्नी की चुम्मी ली।

मन्नी बोला—"तुम अम्मा नहीं हो।"

सरस्वती बोली—"दुत्! ऐसा नहीं कहा जाता, इनके हाथ जोड़। ये तुझे आशीर्वाद देंगी।"

मन्नी सरस्वती के साथ देव-मन्दिरों में जा-जाकर हाथ जोड़ना सीख चुका है। अतः उसने तुरन्त अरुणा को हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर, प्रणाम किया।

अरुणा ने उसे गोद में लेकर उसका मुख चूम लिया। बोली—"मेरा मन्नी राजा बेटा है।"

सरस्वती बोली—"कहो मन्नी—अम्मा!"

लेकिन मन्नी बोला—"ऊँ—अम्मा तो तुम हो।"

तब अरुणा बोली—"कहो मन्नी—नौकरानी!"

और सरस्वती से अरुणा की ओर देखा न गया। उसकी आँखें भर आई थीं।

× × × ×

दो अभी बजे ही थे कि अलसी ने अरुणा और सरस्वती के सामने तीन-तीन तश्तरियाँ लाकर रख दीं। एक में छिले हुए सन्तरे की फाँकें; दूसरे और तीसरे में सफ़ेद खरबूजे और पपीते के टुकड़े।

अरुणा बोली—"मुझे तो भूख अभी लगी नहीं।"

सरस्वती ने कहा—"तो खाना तो यह कोई है नहीं। यों ही ज़रा तबियत बदलने के लिए कुछ थोड़ा-सा आवश्यक होता है।"

अरुणा को सरस्वती का दूसरा वाक्य जैसे वेध गया हो। बोली—"यह सब मेरी अपेक्षा तुम अधिक जान सकती हो। मैं

तो एक तिनका हूँ और निरन्तर बहते जाना ही मैंने सीखा है।"

सरस्वती—"तो फिर यह भेदाभेद क्यों देखती हो।"

सरस्वती ने अब तक बहुत रोका है। सबेरे से ही वह अरुणा की गति-मति देख रही है। उसने सोचा था, अपनी शालीनता से वह जीजी का जी न दुखने देगी। उसे प्रतीत होने लगा कि इसका फल उसने इन्हीं कुछ घण्टों में देख लिया। तभी एकाएक उसके मुँह से उपर्युक्त वाक्य फूट पड़ा।

अरुणा बोली—"भेदाभेद भी तुम्हीं अधिक समझ सकती हो सरो! यहाँ न भेद का प्रश्न उठता है, न अभेद का। अपना-अपना जीवन ठहरा। मेरे जैसे सीमित जीवन में क्या यह सम्भव है कि तबीयत बदलने का ऐसा संयोग पाऊँ।"

"अच्छा, तो यह बात है?"—सरस्वती बोली—"तबीयत बदलने को भी तुम पैसे से आँकती हो।"

"क्यों न आँकूँ सरो! मुख्य प्रश्न तो अधिकार का ही रहा है। नारी को समान अधिकार देकर भी जो लोग उसे साथी न बनाकर कृपा-पात्री ही रहने देना चाहते हैं, उनके पास एक अर्थोपार्जन का ही बल तो है। आज कितने वर्षों के बाद आयी हूँ, कुछ है ख़बर? कहा था—ज्यादा नहीं तो भी पचास रुपये मासिक तो देता ही रहूँगा। किन्तु कभी पूछा है, क्या भेजा है अब तक? तुम कहोगी कि तब फिर त्यागकर गयी ही क्यों थी? तुम कह सकती हो, तुम्हें अधिकार है ऐसा कहने का; किन्तु तब मैं क्या यह जान सकती हूँ कि अभी कल तक पटना जाने का कोई निश्चय नहीं था। आज मेरे ही आने पर ऐसा सङ्गीन केस निकल आया है कि ठहर नहीं सकते। रुपये भला ये क्या देंगे, जब मुझसे दो बातें करने तक का अवकाश इन्हें नहीं है? माफ़ करना सरो, तुम आज राजरानी हो। ज्यादा नहीं तो तीन

सौ रुपये तो महीने में खर्च ही होता होगा। जीवन में एक निरन्तर प्रवाह देखने के लिए तुम भेदाभेद को सहन नहीं कर सकतीं और तबियत बदलते रहना भी प्रवाह को सजीव रखने के क्रम में तुम्हें आवश्यक है। किन्तु मैं पूछती हूँ कि इन अलसी और धिरवा के जीवन में तबियत बदलना कुछ भी महत्व नहीं रखता?"

अरुणा की बात सुनकर सरस्वती चुप रह गई। अलसी अब भी खड़ी थी।

अरुणा बोली—"मैंने सोचा था, मैं दो-चार दिन रहूँगी। किन्तु मैं देखती हूँ, कुछ ही घण्टों में मैंने तुम्हारे गार्हस्थ्य-जीवन-क्रम में एक व्याघात उपस्थित कर दिया है। इसलिए मैं अब अधिक कष्ट तुम्हें न दूँगी सरो! पाँच बजे मेरी गाड़ी जाती है और उसी से मैं लौट जाऊँगी।"

अब सरस्वती अलसी से बोली—'जाओ, ये तश्तरियाँ नौकरों को बाँट दो।'

अलसी को विश्वास नहीं हुआ। वह चुपचाप खड़ी स्वामिनी की ओर ताककर रह गई।

रङ्ग में भङ्ग होते देखकर अरुणा के जी में आया, वह सरस्वती से इसके लिए क्षमा माँग ले; किन्तु उसने देखा, मन्नी को दूध पिलाते हुए उसका पेट ज़रा-सा खुल गया। तब उसे पता चला कि दो-चार मास में सरो के दूसरा बच्चा भी होने वाला है। उधर अलसी भी उसकी दृष्टि से परे नहीं थी। जो धोती वह पहनती है, वह इतनी फटी और मैली है कि उसे पास खड़े देखने की इच्छा नहीं होती।

किन्तु इतने पर भी अरुणा क्षण भर चुप रही।

सरस्वती के मुँह से निकल गया—'अब खड़ी क्यों है चुड़ैल?'

तब अरुणा उठकर बाहर चली आई। धिरवा लॉन के

किनारे लगी मेंहदी के दरख़्तों की फुनगियाँ छाँट रहा था। उसके बदन पर कोई कपड़ा न था। धोती भी उसकी बहुत जर्जर हो रही थी। काम करते-करते उसी से वह अपना पसीना भी पोंछता जाता था। अरुणा ने उससे कहा—'इधर सुनना धीर! मुझे एक ताँगा लाना होगा। मैं आज ही अभी लौट जाऊँगी।'

इसी समय अलसी बाहर गई। बोली—'आपको माँ जी बुलाती हैं।'

अरुणा भीतर जा पहुँची। सरस्वती बोली—'तुम आख़िर चाहती क्या हो जीजी, मुझे ज़रा समझा दो। तुम अगर अपना हिसाब चाहती हो, तो वह तो कोई बड़ी चीज़ है नहीं कि दिया न जा सके। किन्तु मुझे विश्वास नहीं होता कि इतनी छोटी-सी चीज़ के लिए तुम झगड़ा कर सकती हो! मैं कभी मान ही नहीं सकती कि केवल हिसाब लेने की ही आकांक्षा से तुमने यहाँ आने की कृपा की है। तुम इतनी छोटी-सी चीज़ के लिए झगड़ सकती हो, मैं नहीं मान सकती। मैं तो तुम्हें यह सारा जीवन सौंपने को तैयार हूँ। यहाँ जो कुछ भी तुम देखती हो, तुम्हारा नहीं तो है किसका?'

'कोरा भ्रम है सरो। जब कोई अपना नहीं है, तो शेष का सर्वस्व अपना कैसे हो सकता है!........लेकिन इस बहस की अब गुञ्जाइश कहाँ है। मुझे इसी गाड़ी से चला जाना है। मैं रुक नहीं सकती। मुझको क्षमा कर दो सरो।'

और वह फिर सरस्वती के पास आकर बैठ गई और फल चखने लगी।

× × × ×

प्लेटफ़ार्म पर ट्रेन खड़ी थी।

आगे-आगे अरुणा जा रही थी, पीछे बेडिंग सिर पर लादे

"अरे तुम जा कहाँ रही हो अरुणा!"

कुली। टी-स्टाल के पास से गुजरता हुआ एक अँगरेज-दम्पति दिखाई दिया। युवती हँसती हुई कह रही थी—'तुम इस ट्रेन से रुक सको तो मैं तुम्हारे साथ चल सकती हूँ।'

अरुणा ने क्षण-भर के लिए खड़ी होकर युवती को देखा, उन्माद जैसे उसकी मुद्रा पर उतर आया था।

एकाएक ट्रेन ने सीटी दी। अरुणा बढ़ी और एक डब्बे में जा पहुँची।

किन्तु उसी क्षण किसी का स्वर उसके कानों में टकराया और वह देखती क्या है कि इन्द्र खिड़की खोलकर थर्ड क्लास के उसी कम्पार्टमेण्ट में आता हुआ कह रहा है—'अरे, तुम जा कहाँ रही हो अरुणा ?'

अरुणा ने दृढ़ता के साथ कहा—'उसी नालिश की पैरवी के लिए, जिसमें आप प्रतिवादी की हैसियत से जा रहे हैं। सम्मन तो सर्व हो चुका है न ?'

"मैं अपनी हार मानता हूँ अरुणा" कहता हुआ इन्द्र डब्बे के अन्दर बढ़ गया। उसने झट से अरुणा का हाथ पकड़ लिया वह बोला—पर तुम्हें घर लौटना पड़ेगा। तुम्हें हमारे साथ रहना पड़ेगा। तुम अलग होकर नहीं रह सकोगी। जिसके सामने कर्म की रेख बनाने और मिटाने पर बहस नहीं हो सकती, उसके समक्ष हमारे झगड़े भी तै नहीं हो सकते।" उठो चलो झटसे नहीं तो जंजीर खींचनी पड़ेगी। (किंचित मुसकराकर) अरे आज ही तुम मुझसे अपनी डिक्री के सब रुपये वसूल कर लेना। बस अब तो चलोगी ?

क्षणभर बाद दोनों प्लेटफार्म से चल रहे थे। अस्थिर. किन्तु मौन।

एक मोटो

कई दिन से चित्त में कुछ शून्यता-सी आ रही थी। न तो कोई अव्यक्त आकर्षण था—न अनपेक्षित विपर्यय। मनमें न किसी प्रकार की उमंग थी, न उद्दीप्त उत्साह की कोई नवल झकोर। एक प्रकार की मन्दता, अस्तासन्न आलोक की-सी एकान्त तन्द्रा, चारों ओर समाच्छन्न होकर रह गई थी।

उस दिन एक लाइब्रेरी के उद्घाटनोत्सव में, अपार जन-समूह के बीच खड़ा हुआ, एक मित्र से बातें कर रहा था कि उसी समय मंत्री महोदय ने पाँच सहस्र रुपये के एक गुप्त दान की चर्चा करते हुए बतलाया कि दाता की इच्छा थी—'अब सोचते क्या हो?' मोटो के रूप में, यह वाक्य 'हॉल' की उस दीवाल पर

सुन्दर अक्षरों में लिखवा दिया जाय, जो प्रवेश करते ही सामने पड़ती हो। यह मोटो तदनुसार ही यहाँ दिया गया है। करतल-ध्वनि के साथ उपस्थित समुदाय ने इस पर अपना आह्लाद प्रकट किया। थोड़ी देर में सभा विसर्जित हो गई, सब लोग अपने-अपने घर को लौटते गये। केवल मैं जैसा खड़ा था, वैसा ही खड़ा रह गया। थोड़ी देर में, जब मुझे मंत्री महोदय से कुछ पूछ सकने का अवकाश मिला, मैंने उनके निकट जाकर पूछा कि यह गुप्तदान आपको किस प्रकार, किसके द्वारा, मिला है; तो उन्होंने प्रेषक का केवल नाम बतला दिया।

लो, मंत्री महोदय ही जब उस दाता के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते, तो और कोई क्या जानेगा ? किन्तु क्या मैं आपसे कहूँ कि मैं शायद कुछ जानता हूँ ?

वह एक अत्यन्त साधारण व्यक्ति था। कुरूप इतना कि उससे बात करने की इच्छा शायद ही किसी को होती हो। वह अपने आप तो किसी से बोलता न था; किन्तु किसी बात के पूछने पर उत्तर बड़ी मधुर भाषा में देता और प्रायः बात कहते-कहते वह मुसकरा उठता था

उसका क्या नाम था, यह मुझे बहुत दिनों तक नहीं मालूम हुआ, यद्यपि उससे भेंट प्रायः हो जाती थी। लोग उसे मुंशीजी कहा करते थे। इसलिये मैं भी उसको केवल 'मुंशीजी' ही समझता और इसी नाम से उसे पुकारता था। आफ़िस जाते हुए उसका मकान रास्ते में पड़ता था। इसलिये उससे भेंट होने में मुझे कभी विशेष सचेष्ट होने की आवश्यकता न पड़ती थी। उत्तरोत्तर उसके साथ मेरी घनिष्टता बढ़ती जा रही थी और ज्यों-ज्यों मैं उसके निकट आ रहा था, उसका जीवन मुझे अत्यधिक रहस्यमय प्रतीत होने लगा था।

वह मशीन की भाँति विधिवत् काम करता था। उसकी दिनचर्या इतनी शृङ्खलित रहती थी कि प्रायः पड़ोस के लोग उसका स्मरण करके आपस में हँस लिया करते थे। कभी-कभी उसको अपने कानों से भी अनेक प्रकार के परिहास-कल्लोल सुनने का अवसर मिला था। किन्तु उनको लेकर उसने अपना कोई अभिमत कभी व्यक्त नहीं किया। जब कभी मैंने चर्चा कर दी, तो केवल इतना ही कह दिया—उँह! जो कुछ उनके जी में आये, कहने दो। यह तो संसार है। चाहे जैसे बनो, लोग कुछ-न-कुछ तो कहते ही रहेंगे।

इस प्रकार विवेकशीलता और सदाशयता उसकी प्रकृति बन गई थी। स्मरण आते ही उसका जीता-जागता चलित चित्र आँखों के समक्ष नाचने लगता है। कत्थई वर्ण के, गोल, शीतला के गहरे चिह्नों से विजड़ित उस मुख की बातें, कमर में लुंगी और पैरों में खटपटी पहने हुए उस अर्धनग्न शरीर की अभिनव रेखाएँ जैसे आज भी अपना अस्तित्व चिरस्थिर बनाये हुए हैं।

एक दिन मेरे कुतूहल को लक्ष करके आप-ही-आप उसने अपने जीवन-नाटक का पर्दा खोल दिया।

कई वर्षों की बात हुई, वह अपने प्रेस से लौटकर 'डिप्टी के पड़ाव' की ओर लौट रहा था। चावलमण्डी से उस ओर जाने में मूलगञ्ज और लाटूशरोड रास्ते में पड़ते हैं। उस समय शाम हो गई थी और मूलगंज के चौराहे पर आवागमन का सङ्घर्ष उत्तरोत्तर बढ़ रहा था। वह अभी चौराहे पर आ भी न पाया था कि उसकी दृष्टि एक तांगे की अनुगामिनी हो पड़ी। ताँगा स्टेशन की ओर से आकर रोटीवाली गली के कोने पर खड़ा हो गया। धीरे-धीरे वह भी लौटकर उधर आ गया। वह बराबर उन प्रमदाओं को ध्यान से देख रहा था। अनेक सङ्कल्प-विकल्प उसके

मनमें आये और अपने-आप अन्तर्हित हो गये। अनेक ज्वालामुखी एक के बाद एक उसके जागरण में फूटे और प्रशान्त हो हो गये। वह एक पानवाले के निकट खड़ा होकर पनडब्बे में पान रखा ही रहा था कि उसी क्षण, ज्यों ही वे अनंग-वल्लरियाँ तांगे से उतरकर गली के अन्दर जाने लगीं, थोड़ा फासिला देकर वह उनके पीछे-पीछे चल दिया। जल्दी में पनडब्बा भी न ले जा सका। बोला—ज़रा देर में आकर ले लेंगे।

लोग कहते हैं, यौवन एक नशा है। मैं नहीं कहता कि वे ग़लत कहते हैं। किन्तु किशोरावस्था के संस्मरण, जब हमारे स्वप्न न बनकर आकांक्षा का रूप धारण कर लेते हैं, तब उस दुर्लंघ्य अतीत के पीछे लगना भी तो एक नशा है। वह उद्दाम होता है, यह प्राण-पीड़क; वह निर्बाध, यह मन्थर; वह अवैध और विशृंखल, यह अलौकिक और अक्षय। उसकी थाह नहीं है, वह असीम है; इसकी थाह तो नहीं है, किन्तु यह असीम होकर भी ससीम है। वह चुम्बन है, यह अश्रु। वह कलहास है, यह अधर-कम्पन। वह नर्तन है, यह वंशी-ध्वान।

× × × ×

मुंशीजी चल तो रहे हैं, लेकिन उन पैरों को क्या हो गया है! सोचते भी ठीक हैं, आँखों ने स्वप्न नहीं देखा, चेतना भी कुन्द नहीं हुई, तो भी उनके हृदय में यह स्पन्दन, आत्मा में यह विस्फूर्जन कैसा है?

गाँव में पड़ोस के रिश्ते से वह उसकी कुछ होती थी। वह एक भोला युवक था, जीवन की गति में सर्वथा अबोध। कविता में वह प्रसाद गुण का समर्थक था। सीधी बातें ही उसकी समझ में आती थीं। श्लेष और व्यंग्य क्या वस्तुएँ हैं, संकेतों में भी जीवन की प्यास, आत्मा की हुंकार, आशाओं की चिनगारियाँ

सर्वथा मौन, नीरव भाव से, आया करती हैं, वह कुछ जानता न था ; जानने को उसने कभी चेष्टा भी नहीं की थी।

वर्ष में दो-चार बार तो वह अपने घर को जाता ही था। तभी दो-चार दिन को रहता था। सबसे मिलता, समवयस्क साथियों से, गुरुजनों और बड़ी-बूढ़ी माता-बहनों से भी। उन्हीं दिनों की बात है।

दिवाली थी उस दिन। वह पहुँचा एक घर में। सूर्यास्त हो रहा था और अन्धकार कोने-कोने में अपने पैर पसार रहा था। वह भीतर गया, उसने एक बुढ़िया का चरण-स्पर्श किया। उत्तर में उसके कान में पड़ा—सदा सुखी रहो। अच्छा किया, आ गये। अरे हाँ, अपना गाँव-घर और होता किस लिये है।

थोड़ी देर में वह चल दिया। अँधेरा कुछ और बढ़ गया था। दीपक जलाने की तैयारियाँ हो रही थीं। वह अभी भीतरी दालान पार कर ही पाया था कि सहसा उसे रुक जाना पड़ा। देखा उसने, कोई बाहर से आ रहा है। स्त्री है और नूपुर-विहीन !

"अच्छा, तुम हो। कब आये ?" निकट आकर वह बोली।

"आज ही तो।" युवक इतना ही कह सका। क्षीण प्रकाश में भी उसकी कमनीय कान्ति देखकर वह प्रतिहत-सा हो उठा। तब उसने पहचानकर उसके पैर छू लिये।

"मेरे लिये क्या ले आये ?" वह बोली।

"सब कुछ ले आया हूँ। फल, मिठाइयाँ। पर उनसे क्या, मैं खुद भी तो....।" मृदुल हास के झकोर में वह अपने वाक्य को भी पूरा नहीं कर सका।

"अच्छा तो है।........जाते हो ? अच्छा-अच्छा, फिर आओगे न ?"

"जरूर।"

पर फिर वह उससे मिलने गया नहीं। क्यों? कम-से-कम उन दिनों तो, कभी उसने अपने-आपसे पूछा न था। वह धर्म-भीरु था। मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा पर वह संस्कृति और धर्म की सत्ता का अधिकार मानता था।

उसके बाद?

उसके बाद वह एक दिन नगर में ही सुनता है—वह तो किसी के साथ चली गई।

अनेक बार उसने सोचा, सोच-सोचकर स्थिर किया, उसका क्या दोष था? लेकिन एक-दो बार नहीं, पचासों बार उसके कानों में आया, आपस के कई लोगों ने उससे कहा, पड़ोस के घरों की बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों तक ने हाथ मटका-मटका कर बतलाया—"वह दुष्टा थी, कलमुँही; ससुराल के भीतर पैर रखते ही उसने अपने स्वामी को जप लिया था!"

दुर्भाग्य से आज के इस मुंशी और सुदूर अतीत के उस युवक ने सत्यार्थप्रकाश पढ़ा था और आर्यसमाज के वार्षिक उत्सवों पर उसने कुछ व्याख्यान भी सुन लिये थे।

लेकिन इससे क्या?' ये आरियासमाजवाले इसी तरह बका करते हैं!' सुनकर युवक चुप रह जाता, आगे कोई बात वह कहता कैसे?

जमाना बदल गया। वह युवक, जो समर्थ था कि चुपचाप पड़े-पड़े आराम की ज़िन्दगी बिताता, विवश हो गया कि किसी काम में लगे। तब उसने नौकरी कर ली।

और गृहस्थी?—विवाह? और उसमें उन्मीलित आशाएँ और उनका विस्तार?

अभी ऐसी जल्दी क्या है? देखा जायगा। जो लोग धूम से उसका विवाह करने के अधिकारी थे, जब वही न रहे, तो

अब कौन करे विवाह ! फिर विवाह किसी पेड़ की डाल में तो फलता नहीं है !

कभी-कभी एक क्षीण, एक धुँधली स्मृति उसके मन-प्राण को हिला देती ; जीवन के निखिल उल्लास को पल भरमें चूर-चूर कर देनेवाली—"मेरे लिए क्या ले आये ?"

टप-टप-टप ! कुछ आँसू बह जाते और फिर वही मुंशीजी और उनका वही दैनिक जीवन !

प्रेस के लोग कह डालते—मैनेजर साहब, अरे अब तो शादी कर डालो। इतनी उमर बीत गयी ! रुपया भी काफ़ी जमा कर लिया। कमी किस बात की है ?

"हाँ भाई, कहते तो ठीक हो। लेकिन सिर्फ़ कहने से क्या होता है। मैं तो तैयार हूँ। हँ-हँ-हँ !"

किन्तु यह तो अपने को भुलावे में रखने की एक शैली थी। क्या इसमें कोई तथ्य था ?

× × × ×

"ओह ! तुम हो !" उसे देखते ही कहकर मुंशीजी धम्मसे फ़र्शपर बिछे गद्दे पर गिर पड़े !

झटसे ज़ीने के नीचे तक के किवाड़ बन्द करा दिये गये। हसरत भी बहुत रोयी। मुन्नी हैरत में आ गयी। बात क्या है आख़िर ? यह है कौन ? अम्मी को इतना सदमा क्यों हुआ ?

हम सोचा करते हैं कि जब हमको अत्यधिक प्राण-पीड़क आघात लगता है, तब प्रलय क्यों नहीं हो जाया करता—यह वसुन्धरा फट क्यों नहीं जाती ? अच्छा, मान लो, ऐसा नहीं हो सकता। पर यह 'हार्ट' क्या चीज़ है, जो ऐसे अवसर पर भी फेल नहीं हो जाता। जब उसके फेल हो जाने का उपयुक्त अवसर आता है, तब तो वह टस-से-मस नहीं होता, और जब कोई

वैसा विशेष कारण नहीं उत्पन्न होता, तब सुनते हैं कि अमुक व्यक्ति का हार्ट फ़ेल हो गया।

तो अपढ़ लोग ही भले हैं, जो बात पड़ने पर कह डालते हैं—अजी, यह तो कुछ थोड़े-से-पढ़े-लिखे 'साहबों' का ख़ब्त है, और कुछ नहीं।

लेकिन क्या ऐसी ही बात है?

नहीं भाईजान, ऐसी बात नहीं है। मनुष्य का हृदय पत्थर से भी कठोर है। उसकी सहन-शक्ति की सीमा नहीं है। दुःख पहुँचने पर यदि इसी प्रकार हृद्गति बन्द हो जाया करती, तो संसार की यह विलक्षणता—उसकी यह भयङ्करता—ही काहे को दृष्टिगत होती?

उस दिन रात को बड़ी देर से मुंशीजी घर लौटे।

तब से मुंशी जी वहाँ प्रायः आने-जाने लगे।

आने-जाने तो लगे, पर बहुत दिनों तक खुल न सके। चुपचाप बैठे रहते। हसरत कुछ पूछती, तो उत्तर-भर दे देते। कभी-कभी जब जी में आता, साथ में कुछ लेते भी आते। रुपये-पैसे, कपड़े, फल, मिठाइयाँ, तसवीरें इत्यादि।

हसरत पूछती—इनकी ज़रूरत ही क्या है?

"तो भी यों ही लेता आया।" धीरे-से मुंशीजी कह देते।

हसरत चुप रह जाती।

कुछ दिन यों ही और चले। मुंशीजी रोज़ तो आते न थे तो भी हसरत अब उनकी रोज़ ही प्रतीक्षा करने लगी। वह अकसर मुन्नी से झुँझला पड़ती। गाली-गलौज भी होने लगता। मुन्नी जब सख़्त जवाब दे बैठती, तो हसरत की आँखें भर आतीं। वह कहती—मुझे क्या करना है। जैसा करोगी, वैसा उसका फल पाओगी।

एक दिन बातें बढ़ गयीं। हसरत कह बैठी—जी में आता है, गङ्गाजी में डूब मरूँ।

मुन्नी ने उत्तर दिया—गङ्गा में ही डूब मरना था, तो उसी वक्त मर जातीं, जब गाँव से काला मुँह करके चली थीं। अब डूब मरने से क्या होगा? सौ-सौ चूहे......!

उस दिन हसरत ने उपवास किया।

संयोग की बात, आ गये मुंशीजी। हसरत ने सारी बातें कह सुनायीं। वह खूब रोयी, सिसक-सिसककर, फूट-फूटकर।

मुंशीजी तब भी चुप रहे।

हसरत जब किसी तरह शान्त हुई, तो बोली—अब सोचते क्या हो?

मुंशीजी तब भी बोले—क्या सोचूँ? जो बतलाओ, वही सोचने लगूँ।

हसरत ने लक्ष किया, मुंशीजी के शब्दों में जो रूखापन है, भीतर उसका कोई चिह्न तक नहीं जान पड़ता। तभी तो उनकी मुद्रा ऐसी म्लान है! लक्षकर उसे कुछ सुख मिला, कुछ विस्मय भी। वह सोचने लगी—ये तो विचित्र आदमी हैं। किन्तु अधिक देर तक बिना अपनी बात कहे उससे रहा नहीं गया। वह बोली—मुझे लेकर कहीं चल नहीं सकते?

अब? जीवन की सारी आशाएँ सूख-सूखकर जब सदा के लिए शान्त हो चलीं, तब तुम यह कहती क्या हो हसरत? क्या सोचकर तुमने ऐसा प्रस्ताव कर दिया? तुम पगली तो नहीं हो गयी हो! अपने को देखो और मुझको। अपने को ही पहले देखो। क्या रख छोड़ा है तुमने, जिसके लिए ऐसी नयी आशा उत्पन्न कर रही हो? क्या तुम्हारे हृदय के भीतर अब भी नारीत्व का अंश अवशिष्ट है? तुम तो वेश्या हो हसरत!

जाने दो। तुम अपने को भूल जाओ। अपनी बात सोचने में तुम्हें दुःख होगा! जाने दो, जी को बेकार दुखी करना अच्छा नहीं है। अच्छा तो अब मुझे देख लो। मुझ में अब क्या रह गया है, जिसे चाहती हो? सोचती होगी—मैं बड़ा साधु हूँ, लेकिन ऐसी बात नहीं है हसरत। तब? तब क्या मुझे देखकर तुम्हें दया हो आयी है? क्योंकि मैंने अपना कोई संसार नहीं बनाया, क्योंकि मेरे बाल-बच्चे नहीं हैं; क्योंकि मैं अकेला हूँ और क्योंकि वक्त जरूरत पर कोई मुझे पानी देनेवाला नहीं है! यही बात है न?

अच्छा, माना कि इन बातों में से कुछ वाक़ई सही हैं। तो? क्या तुम सोचती हो कि तुमको लेकर मैं अपने इन अभावों की पूर्ति कर लूँगा? भ्रम है हसरत, निरा भ्रम। जीवन में क्रान्ति चाहे जब उत्पन्न कर डालो, जीवन का अन्त तो और भी शीघ्रता से कर लिया जाता है; लेकिन जीवन का निर्माण एक-दो दिन में नहीं होता। वह तो एक युग की साधना की अपेक्षा रखता है।

तब तुम्हारा यहाँ काम ही क्या है? क्या सोचकर इस गली, इस सीढ़ी और इस हसरत के भीतर तुमने प्रवेश किया? क्या तुम इस नारी का तमाशा देखने आते हो? हसरत क्या तमाशा की तरह देखने की चीज़ है? अच्छा, मान लो कि है। तो क्या तुम्हारे समाज में ऐसी यह अकेली हसरत ही है, जिसका तमाशा देखने की तुम्हारी इच्छा हो आयी है? देखो न, हर छज्जे पर जाकर आँखें फाड़-फाड़कर! अपनी माँ-बहनों के अभिनव रूप-सौन्दर्य की झाँकी जरा देखो तो सही! जरा उनके भीतर प्रवेश करके उनसे पूछ तो देखो कि इस जीवन की प्राप्ति तुमने किस तरह की?

समुद्र-मन्थन से छुट्टी पाकर मुंशीजी बोले—सोचकर बताऊँगा।

× × × ×

पतझड़ के बाद जीवन के उद्यान में बसन्त आ पहुँचा है। नया मकान मुंशीजी ने किराये पर ले लिया है। मेज़-कुर्सी, टी-सेट, इलेक्ट्रिक फ़िटिङ्ग, परदे, पलंग, तसवीरें, नफ़ीस बर्तन आदि सभी वस्तुएँ एकत्र हो गयी हैं। नये, साफ़-सुथरे सामान से सजा हुआ मकान मुंशीजी को कैसा उत्साहित रखता है!

कई दिनों के बाद जब मुंशीजी हसरत को ले आने को तैयार हुए, तो उसके घर गये।

और हसरत?

उसमें इतना धैर्य ही कहाँ रह गया था! सत्य हो कि असत्य, भला हो कि बुरा; धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा करके, उसने कभी सोचा नहीं। एक बार जो बात उसने स्थिर कर ली, उसी के अनुसार वह आगे बढ़ती गयी। क्योंकि इस जीवन में उसने शिथिलता को सदा त्याज्य ही माना है। आगे बढ़ जाने के बाद पीछे की ओर देखना उसे कभी स्वीकार नहीं हुआ। जो प्रिय है, वह जब उत्तम है, तो सभी ओर से उत्तम है, यही वह समझती आयी है। उसे कभी यह जानने का अवसर नहीं मिला कि उत्तम होकर भी कोई बात किसी दूसरे दृष्टिकोण से मध्यम और निकृष्ट हो सकती है!

फिर भी वह सोचती रही, कई दिन बराबर कि वे आयेंगे और सोचकर बतलायेंगे!

पर वे क्या सोचकर बतलायेंगे! क्या अब भी उन्हें कुछ सोचना ही है? अब तक सोच-सोचकर जब उनका जी नहीं भरा, जब अभी उन्हें कुछ सोचना ही है, तो अच्छा है—वे न सोचें! न; हसरत नहीं चाहती कि उन्हें कुछ भी सोच-विचार करने की ज़रूरत हो।

उस रात को उसे नींद नहीं आयी। उससे कुछ खाया नहीं गया। वह रातभर करवटें बदल-बदलकर आहें भरती और कराहती रही। गर्मी के दिन थे और उस रात को तो कानपुर का टेम्परेचर एक सौ चौदह तक जा पहुँचा था। सबेरा होते-होते उसे ज्वर आ गया।

भयङ्कर ज्वर में वह कई दिनों तक अचेत रही। उसकी लड़की मुन्नी ने एक हकीमजी को बुलाया और दवा भी दिलवायी; परन्तु हसरत किसी तरह सचेत न हुई—ज्वर भी कम नहीं हुआ। उस अचेतन अवस्था में मालूम नहीं कितने प्रकार के स्वप्न उसके मानस पर आये और गये होंगे। कभी-कभी एक-आध वाक्य कुछ अधिक स्पष्ट हो जाता, अन्यथा अधिकतर वह भीतर-ही-भीतर बुदबुदाती रहती।

एक-आध बार मुन्नी ने सुना, उसकी अम्मी (हसरत) कह रही है—"जब तुमको सोचकर ही जवाब देना था, तो तुम यहाँ आये ही क्यों?" कभी-कभी उसने यह भी देखा कि वह कुछ कह नहीं रही है, किन्तु उसकी आँखों से अश्रु-प्रवाह जारी है। एक बार उसने यह भी सुना—"गङ्गा में ही डूब मरना था, तो उसी वक्त क्यों नहीं डूब गयीं!" वह स्थिर न रह सकी। उसका कण्ठ भर आया। वह यही सोच-सोचकर पछताती रही कि उस दिन ऐसी कड़ी बात मैंने क्यों कह दी?

. दुनियाँ सोचती है—जो बुरा है, हेय, निन्द्य, नीच और निकृष्ट, वह सदा के लिए पतित है—उसके पतन की सीमा नहीं है, अन्धकूप है वह। उसकी ओर देखना भी पाप है। लेकिन दुनियाँ यह नहीं सोचती कि मनुष्य अन्ततः मनुष्य ही तो है। वह गिरता है, तो कभी उठता भी तो है। जो एक बार गिर चुका है, क्या आवश्यक है कि वह बराबर गिरता ही चला जाय?

हसरत के मन-प्राण में भी, जान पड़ता है, उस समय विमल जीवन का ओज, उत्सर्ग बनकर फूट पड़ा। तभी तो अचेतन अवस्था में भी उसके कण्ठ से निकला—गङ्गा में डूबने की ज़रूरत न पड़ेगी मुन्नी! मैं जा रही हूँ। मुझे जाना है। मेरी गाड़ी तैयार करवा दे। मैं यहाँ अब रह नहीं सकती। वे मुझे लेने के लिए आ रहे हैं। वे आये! वे आये!! वे!—वे!!!

और मुंशीजी उस समय प्रेस में बैठे हुए सोचते थे—वह आयेगी और उस सजे हुए मकान को एकबारगी, अनायास देखेगी, तो कितनी प्रसन्न होगी! इसीलिए तो मैं कई दिन से गया नहीं। मुझे अपनी पूरी तैयारी भी तो कर लेनी है। थोड़ा-थोड़ा करके जो सुख प्राप्त होता है, उसमें मस्ती कहाँ मिलती है। वह तो क्रमागत होता है। इसीलिए मैं उसे एकाएक अत्यधिक प्रसन्न देखना चाहता हूँ। बेचारी नहीं जान सकी कि पवित्रता का जीवन सरोवर-सा शान्त, मन्द पवन-सा उन्मद और दुग्धफेन-सा उज्ज्वल होता है!...ओः! उसने कितने प्यार से कह डाला—मुझे लेकर कहीं चल नहीं सकते! अब कई दिन तो हो गये, मैंने उसकी खबर भी न ली। मुझे आज जाना चाहिए। मैं आज उसके यहाँ जाऊँगा—मैं अवश्य जाऊँगा।

चौथे दिन की बात है। हसरत के बदन-भर में चेचक फूट निकला था। दाने पक रहे थे और शरीर का तापमान बराबर एक सौ तीन बना रहता था। हसरत चुपचाप लेटी रहती। पिछले दो दिनों में जब इतनी अधिक पीड़ा न थी; जब मानसिक व्यथा ही शारीरिक व्यथा का संयोग पाकर आह के रूप में फूट पड़ती थी, तब तो हसरत कराहती भी थी। परन्तु अब, जब उसके कष्ट की सीमा नहीं थी, वह सर्वथा मौन रहती थी!

दिन ढल रहा था, कमरे के बन्द किवाड़ खोले जा रहे थे कि

मुंशीजी ने देखा—हसरत शान्त है, सर्वथा मौन। फिर लक्ष किया, मानो वह कुछ कहना नहीं चाहती कुछ भी कहने की उसकी इच्छा नहीं है।

इसी समय मुंशीजी आ पहुँचे। मुन्नी ने सब हाल कह सुनाया। हाल कहते-कहते वह रो पड़ी।

मुंशीजी उसी क्षण हसरत के निकट जाकर खड़े हो गये।

रेशम की एक खाकी चादर उसके नग्न शरीर पर पड़ी हुई थी। पङ्खा मन्दगति से चल रहा था और खस की भीगी टट्टियों से छनकर वायु का शीतल झकोर अनायास उस कमरे भर में फैल जाता था।

मुंशीजी ने देखा—हसरत शान्त है, सर्वथा मौन। फिर लक्ष किया, मानो वह कुछ कहना नहीं चाहती; कुछ भी कहने की उसकी इच्छा नहीं है।

मनुष्य का क्षण-क्षण कैसा अनिश्चित है। अभी पाँच मिनट भी नहीं हुए होंगे, जो व्यक्ति स्वप्निल आशाओं के मृदुल झूलों में झूल रहा था, हाय! वही उस समय कैसा विवश-विपन्न और कैसा क्षिप्त-ध्वस्त हो उठा।

मुन्नी भी उसके निकट ही खड़ी थी। बोली—अम्मी! अम्मी!

हसरत की पलकें खुल गयीं। आँखें सामने करके वह एक क्षण तक इकटक मुंशीजी को देखती रह गयी। मुंशीजी जब तक कुछ कहें-कहें, तब तक हसरत ने ही क्षीण स्वर में कहा—तुम आ गये।

"हाँ, मैं तुम्हें लेने आया हूँ।" रुद्ध कण्ठ, आर्द्र पलक, और प्रतिहत प्राण से मुंशीजी ने कहा ही था कि हसरत चरम आन्दोलित होकर बोली—"तो ले चलो।" और इस कथन के साथ ही निमेष-मात्र में निष्प्रभ और निश्चेष्ट हो गयी।

और थोड़ी देर तक पत्थर की भाँति स्थिर रहने के बाद मुन्नी ने भी कह दिया अब सोचते क्या हो?—ले चलो!

दस वर्ष बाद—

विजय पुस्तकालय के उस गगनचुम्बी भवन से नीचे उतरकर जब मैं सड़क पर आकर, पुस्तकालय से लौटे हुए जन-समाज में मिल गया तो मैंने लक्ष किया, कुछ लोग उपर्युक्त 'मोटो' की आलोचना कर रहे हैं। एक व्यक्ति ने कहा—हाँ, यह कुछ अपूर्ण-सा लगता है।

उत्तर में एक बौद्ध भिक्षु ने कह दिया—हो सकता है कि वह अपूर्ण हो, किन्तु अपूर्ण रहकर भी क्या वह पूर्णता की प्रेरणा का संकेत नहीं करता? सोच-विचार से आगे बढ़कर कर्म में—जीवन-युद्ध में—एकदम से जुट जाने की ओर क्या वह हमें उन्मुख नहीं बनाता?

उत्तर सुनकर मैं ज़रा आगे बढ़ गया। अत्यन्त निकट जाकर मैंने उस ओर दृष्टि फेरी ही थी कि वैसी ही हास-मुखरित मुद्रा और प्राणप्रद शब्दावली में उसने पूछा—ओहो बिहारी बाबू, तुम यहाँ कहाँ?

लौ

बातें करते हुए वे लोग कुछ और आगे बढ़े। दुकानें बन्द हो गई थीं ; किन्तु उनके बारजों और छज्जों पर कुछ दीपक अब भी टिमटिमा रहे थे। घंटाघर के निकट का इक्का-स्टैंड सूना हो रहा था। हाँ, जवाहर-स्क्वायर के इधर-उधर अलबत्ता एक-आध इक्का अभी खड़ा हुआ था। हवा ठंढी-ठंढी चल रही थी। बाज़ार का सम्पूर्ण कोलाहल अब जैसे विश्राम बनकर चुप हो गया था। हाँ, कभी-कभी जुए के कुछ अड्डों पर क्षण-भर के लिये एक हो-हल्ला मच जाया करता था।

इसी क्षण उन लोगों ने आगे देखा, कोई बड़े इतमीनान के साथ, ढीला पायजामा घसीटता हुआ, चला जा रहा है।

सिर के बाल घने हैं, क़द नाटा और बदन छरहरा। ललित बोला—अरे! यह तो सुधाकर है। और घनश्याम ने ज़ोर से पुकारा—ठहरो सुधाकर।

सुधाकर खड़ा हो गया। इधर-उधर देखा भी उसने।

अब वे लोग बिलकुल निकट आ गये थे। पहली ही दृष्टि में उन्हें बोध हो गया, सचमुच सुधाकर ही है और इस समय काफ़ी मज़े में है।

ललित बोला—हम लोग तो एक जगह यों ही आ गये थे; लेकिन तुम इस समय यहाँ कैसे?

घनश्याम ने देखा, कमीज़ और पायजामा दोनों कीचड़ से काफ़ी सने हुए हैं। क़मीज़ की आस्तीन पर तो पान की पीक भी पड़ी हुई है।

मुसकराते हुए सुधाकर बोला—मैं भी यों ही किसी की टोह में चहलक़दमी कर रहा था।

तभी इस दशा को प्राप्त हुए हो। ललित का संकेत उसकी वेश-भूषा पर था।

घनश्याम ने कहा—तो तुम ऐसी जगह जाते ही क्यों हो?

तब पहले एक ओर चलते हुए, परन्तु फिर ज़रा-सा रुककर तेज़ पड़ता हुआ, सुधाकर बोला—क्या कहा, जाते ही क्यों हो? ख़ूब! यानी तुम इस समय घूमने निकल सकते हो और मैं मर क्यों नहीं जाता! क्यों?

ललित सोच रहा था—तब ठीक है। फिर बोल उठा—कुछ कसर हो, तो कहीं और ले चलूँ।

सुधाकर की मुद्रा बदल गई। कुछ उत्सुक होकर वह बोला—सच कहते हो?

ललित ने जेब से पाँच रुपये का नोट निकालकर दिखला

दिया। और सुधाकर तरंगित होकर बोल उठा—अब तो सिर्फ़ एक जगह मिल सकती है। पिलाना चाहो, तो ले चलो।

सब लोग एक ओर चल दिये और ललित ने कहा—चलो, तुम भी क्या कहोगे कि कोई था। लेकिन यार तुमने यह नहीं बतलाया कि तुम किसे टोह रहे थे।

एकाएक उसी जगह रुककर सुधाकर कहने लगा—देखो, पिलाना चाहो तो पिला दो ; फ़िजूल की बात मत पूछो।

'अच्छा जाने दो' कहकर ललित मुस्कराने लगा और घनश्याम ने पूछा—और कहो भई सुधाकर, तुम्हारी उन बहिनजी का क्या हाल-चाल है ?

सुधाकर फिर रुककर खड़ा हो गया। बोला—"माफ़ कीजियेगा, तबीयत होती है, आपसे आदाबर्ज़ कर लूँ। आप लोग सदा मुझे ग़लत समझते रहे—यंहाँ तक कि आज तक आपकी धारणा नहीं बदली।" फिर वह थोड़ा रुका और अत्यन्त उग्र होकर बोला—"तुम्हें शर्म आनी चाहिए मिस्टर घनश्याम ! मेरी मनुष्यता पर हमला करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है। जो लोग सदा अपनी नाक से बदबू ही सूँघा करते हैं, वे—हम कहना चाहें तो कह सकते हैं—गन्दगी अपने भीतर रखते ; पर खोजते अपने आस-पास हैं।"

ललित बोला—चलो-चलो, बहको मत। तुम जानते हो, शिकायतें रखते हुए भी मैं तुम्हारा आदर करता हूँ।

लोग अब जॉनस्टनगंज में आ गये थे। दरीबे की ओर मुड़कर सुधाकर बोला—ज़रा घर हो लूँ, फिर चलूँ।

× × × ×

घनश्याम ने देखा—रमणी कुछ दुर्बल है। मुख पर गम्भीरता की छाप है। वेष-भूषा में एक चारुता, स्वच्छता और सुरुचि है।

घनश्याम ने देखा—रमणा कुछ दुर्बल है ! मुख पर गम्भीरता की छाप है । वेष-भूषा में एक चारुता, स्वच्छता और सुरुचि है ।

इसी क्षण सुधाकर को कुछ विकृत दशा में देखकर रमणी बोली—आज तुमने अपनी यह हालत कैसी बना रक्खी है? ख़ैर; अन्दर जाकर कपड़े बदल आओ।

ललित देख रहा था—अवस्था अधिक नहीं है। तरुण जीवन में नारी का रूप जितना मोहक हो सकता है, उसमें पूर्ण रूप से झलक रहा है। लेकिन स्वर में न कोई लिप्सा है—न मादक आकर्षण। एक तरह की शान्ति-सी निखर रही है।

सुधाकर कपड़े बदलने चला गया। घनश्याम अवाक् है। सीमाओं में ही निरन्तर सन्तुष्ट रहनेवाला वह और होता भी क्या! बात करने की इच्छा होती है, लेकिन सवाल है बात करे भी तो क्या? ललित ने पूछा—अन्दाज़ से, कितने दिनों से सुधाकर से आपकी मित्रता होगी?

रमणी पहले तो ज़रा-सी अस्तव्यस्त हुई। किन्तु फिर पल भर में ही स्थिर-गम्भीर होकर बोली—आप यह सब उन्हीं से पूछ लें।

इतने में सुधाकर आ गया। बोला—ये मेरे मित्र हैं बिन्दो। ललितकुमार इनका नाम है। अँगरेज़ी-साहित्य में अच्छी गति है। और ये प्रोफ़ेसर घनश्याम मेहता राजनीति और नागरिक-शास्त्र के लेक्चरर हैं। इनको भी शिकायत है कि मैं तुम्हारे साथ क्यों रहता हूँ?

तब गम्भीरता पर एक करुण मुसकान लेकर बिन्दो बोली—ठीक तो है। तुम्हारा मेरे साथ रहना कोई बहुत अच्छी बात तो है नहीं।

संकोच से दबकर ललित ने कहा—अफ़सोस है, इससे पहले मुझे आपको जानने का अवसर नहीं मिला।

कोई दूसरी जगह होती, तो घनश्याम कह देता—जैसे अब कोई रिश्ता निकल आया हो।

सुधाकर बोला—मैंने अब तक ऐसा कोई व्यक्ति नहीं पाया, जो मुझे समझा देता कि अमुक वस्तु केवल अच्छी-ही-अच्छी है अथवा बुरी-ही-बुरी।

घनश्याम ने कहा—लेकिन हमारे ललित बाबू ऐसे ही व्यक्ति हैं।

सुधाकर झट से बोल उठा—भ्रम है। मनुष्य ने अपने को जीवित रखने के लिए ऐसे संसार की रचना की है, जिसका कण-कण, अपने प्रत्यक्ष में, अन्तर से भिन्न है। मैं तुमको जो कुछ भी समझ सकता हूँ, मैं पूछता हूँ क्या वास्तव में तुम वैसे हो?

ललित बोला—फिर तुम किताबी भाषा में बात करने लगे। अरे मियाँ ज़मीन पर चलो, ज़मीन पर।

घनश्याम मुस्कराने लगा।

रमणी फिर कुछ अस्तव्यस्त हुई। वह उठी और भीतर जाने को उद्यत हुई ही थी कि सुधाकर बोल उठा—ठहरो बिन्दो। तुम यहाँ बिलकुल मेरे पास आ जाओ। रमणी कुछ झिझकी।

सुधाकर ने कुछ और ज़ोर से कहा—देखो बिन्दो, ये लोग सदा मेरा मज़ाक उड़ानेवाले मित्रों में से हैं। पचासों बार, तुम्हारे सम्बन्ध को लेकर, इन्होंने मुझ पर—और मुझसे अधिक तुम पर—अविश्वास किया है। आज अवसर आ गया है कि मैं इनका भ्रम दूर कर दूँ। इसीलिए मैं चाहता हूँ, तुम बिलकुल मेरे निकट आकर बैठ जाओ तो मैं कुछ कहूँ।

बिन्दो अब तुरन्त सुधाकर के निकट आकर बैठ गई।

सुधाकर ने कहा—मेरे सिर पर हाथ रखकर शपथ लो कि

जो कुछ मैं पूछूँगा, वह सब ज्यों-का-त्यों तुम आज साफ़ तौर से कह दोगी।

"मैं शपथ लेती हूँ।" वास्तव में सुधाकर के सिर पर हाथ रखकर बिन्दो ने कहा।

"अच्छा अब जाओ, भीतर से विष की वह शीशी भी उठा लाओ।" सुधाकर इस तरह बोला, मानो वह एक हाहाकार के साथ खेल रहा हो!

ललित और घनश्याम स्तम्भित हो उठे। सुधाकर ने कहा—घबड़ाइए नहीं, किसी दुर्घटना को निमंत्रण नहीं दे रहा हूँ। चुपचाप देखते चलिए।

बिन्दो भीतर चली गई।

सुधाकर बोला—घनश्याम, तुम शून्य के विषय में कुछ जानते हो?

"मैं फ़िलासफ़ी से सदा दूर रहता हूँ।" घनश्याम ने कहा।

ललित ने कहा—कहिए, कहिए, आप कहना क्या चाहते हैं?

बिन्दो भी आकर दरवाज़े पर खड़ी हो गई।

"बात कुछ पुरानी है।" सुधाकर कहने लगा—"मैंने एक दिन इसी बिन्दो से कहा था—जानती हो बिन्दो, हम लोगों ने समाज के शासन को स्वीकार न करके एक नई दुनियाँ बसाई है। जिस नारी के पास मेरे पत्रों तक का पहुँचना समाज ने स्वीकार नहीं किया, मैं आज उसीके साथ रहता हूँ। समाज आज हम दोनों को घृणा की दृष्टि से देखता है। उसका विश्वास है कि हम दोनों का परस्पर अवैध सम्बन्ध है। अवैध उसे न भी कहूँ, तो भी कम-से-कम वह वैवाहिक तो नहीं ही है। तो भी हम रहते एक साथ हैं। अर्थात् समाज हम पर जितना अविश्वास कर सकता

था, उतना तो उसने अब कर ही लिया है—मानवता के ख़ून का खप्पर वह जितना भरना चाहता था, भर ही चुका है।

बिन्दो के हाथ में विष की शीशी चमक रही थी।

सुधाकर ज़रा भी न रुककर ललित और घनश्याम की ओर देखता हुआ बोला—इसके बाद पूछ लो, मैंने इससे क्या कहा था।

बिन्दो पहले कुछ अस्थिर हुई किन्तु फिर बोली—इसके बाद इन्होंने कहा था कि तब फिर हम लोग अगर भाई-बहन न रहकर पुरुष-नारी के रूप में ही बदल जायँ, तो कैसा हो? तब मैंने उत्तर दिया—ऐसा नहीं हो सकता। भाई भाई ही रहेगा, बहन बहन ही। आज तुमने भाई के आसन से गिरकर ऐसी बात कही सो कही, आइन्दा न कहना। नहीं तो मैं विष पानकर प्राण त्याग दूँगी। और दूसरे ही दिन मैंने यह शीशी लाकर रख छोड़ी थी। हम लोगों के बीच में यह एक मध्यस्थ की भाँति स्थापित है। हमारे भविष्य की, प्रत्येक साँस के साथ इसका सम्बन्ध है।

घनश्याम और ललित अवाक् थे। उन्हें अपनी चेतना पर विश्वास नहीं हो रहा था।

सुधाकर बोला—जाओ रख आओ शीशी उसी जगह।

बिन्दो फिर भीतर चली गई। घनश्याम बिन्दो को देख-देखकर बार-बार सोचता इसी नारी के सम्बन्ध में हम लोग मालूम नहीं क्या-क्या सोच रहे थे। ललित भी उसके व्यक्तित्व से कम प्रभावित नहीं हुआ।

देर कुछ अधिक हो रही थी, इसलिये बिन्दो के वापस आते ही ललित और घनश्याम उठ खड़े हुए।

सुधाकर ने कहा—बैठो, मैं संन्यासी नहीं हूँ और इसकी

तरह शून्य तक भी नहीं जा पहुँचा हूँ। आज दिवाली है और तुमने मुझे पिलाने का वादा किया है।

बिन्दो ने हँसते हुए कहा—अच्छा, यह बात है!

घनश्याम ने फिर उठते हुए कहा—आज तो कुछ ज्यादा देर हो गई। फिर हम लोग किसी दिन आकर विचार-विनिमय करेंगे।

ललित ने कहा—कम-से-कम मैं अवश्य आऊँगा।

× × ×

सब लोग चल दिये। सुधाकर बोला—मैं अभी आता हूँ।

थोड़ी देर में मस्ती के साथ झूमता हुआ सुधाकर फिर, ललित और घनश्याम को साथ लिये हुए, उसी मकान के अपने कक्ष में आ पहुँचा। ललित कुर्सी पर बैठा और घनश्याम एक पलँग पर पैताने की ओर, जिस पर तकिये के सहारे सुधाकर बैठ गया था।

बैठते ही ललित ने कहा—एक बात मैं कहना चाहता हूँ।

सुधाकर बोला—मैं जानता हूँ, तुम क्या कहोगे?

घनश्याम मुसकराने लगा। बोला—अच्छा बतलाओ। लेकिन ललित, तुम अब सच-सच ही कह देना।

"यही कि तुमने बिन्दो पर तो अपनी एक आस्था क़ायम कर ली; परन्तु मुझ पर तुम अब भी सन्देह करते हो!" सुधाकर ने तपाक से कह दिया।

ललित ने कहा—बात वास्तव में ऐसी ही है। फिर अगर इसका कोई आधार न होता, तो आप इस तरह मेरी भावना का अनुमान भी नहीं लगा सकते थे।

सुधाकर तनकर बैठ गया और दृढ़ता से बोला—बिलकुल ग़लत! मैं कहता हूँ—बिलकुल ग़लत। तुम मानव-चरित्र को ज़रा भी नहीं समझ सके ललित! तुम्हें मालूम होना चाहिए कि

पतित, दुर्बल और व्यभिचारी व्यक्ति का भी एक आदर्श होता है। फिर बिन्दो तो, मैंने कहा न, बिलकुल शून्य हो गई है। काम-वासना से अब वह कोसों दूर है। मैं उसकी दृष्टि में, क्षण भर के लिए भी गिर जाऊँ, तो अनर्थ हो जाय, अनर्थ। आज उसने अपने जिन सपनों को सार्थक कर डालने का संकल्प किया है वे बात-की-बात में भंग हो जायँ।

ललित बोला—मैं इसे नहीं मानता। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जीवन से वासना कभी जा नहीं सकती।

सुधाकर—पहले मैं भी ऐसा ही सोचता था ललित। किन्तु मनुष्य अगर अपने को एक आदर्श पर न्यौछावर कर डाले, तो काम-वासना के शून्य अंश तक वह पहुँच सकता है।

ललित—अच्छा, मैं तुम्हीं से पूछता हूँ। तुम भी तो अविवाहित हो। क्यों नहीं तुमने अपने इस विश्वास को चरितार्थ कर दिखाया ?

"मेरी बात मत पूछो ललित" कहते हुए सुधाकर कुछ द्रवित हो उठा। वह बोला—यही मेरी सबसे बड़ी कमजोरी है। आज मैं तुमसे कुछ छिपाना नहीं चाहता। बिन्दो जिस समय अपने पति को त्यागकर मेरे साथ रहने लगी, उस समय मेरा विश्वास था कि हृदय के किसी एकान्त क्रोड़ में वह मुझे चाहती है। किन्तु मैंने देखा, यह मेरा भ्रम था।....खैर, इतना तो फिर भी निश्चित है कि वह अगर मेरे साथ न रहती होती, तो निश्चय ही मैं संन्यासी हो जाता।

घनश्याम ने ताली बजा दी। वह बोल उठा—हियर-हियर।

ललित आश्चर्य में डूबकर बोला—तुम! तुम संन्यासी हो सकते हो—तुम!! असम्भव!!!

अत्यधिक गंभीर होकर सुधाकर बोला—असम्भव कुछ भी

नहीं है ललित। मानव-चरित्र की थाह अभी तुम पा नहीं सके। तुम्हें चाहे विश्वास न हो; किन्तु मैंने पचासों बार सोचा है कि मेरे चरित्र दोष का ही यह बल है कि बिन्दो मेरे साथ बहन की भाँति रह सकी है।

घनश्याम कहने लगा—फिर भी इस रहस्यवाद के साथ हमारी कोई सहानुभूति नहीं हो सकती। जो लोग जीवन में अव्यवस्थित हैं, इस कारण नहीं कि पैसा उन्हें मिलता नहीं, वरन् इस कारण कि वे उत्तरदायित्व से भागते हैं, वे यदि पीड़ित हैं, तो समाज की सहानुभूति वे कभी नहीं पा सकते।

सुधाकर का अन्तर जैसे जल उठा। फिर भी संयत होकर ही उसने कहा—तुम्हें मालूम होना चाहिए कि बिन्दो ने उत्तर-दायित्व से भागना कभी स्वीकार नहीं किया। वह स्वामी का विश्वास चाहती थी। किन्तु जब वह भी उसे नहीं मिला, तो वह अपने को सँभाल न सकी। महीनों उसकी रातें जागते, सोचते और निराहार रहते बीती थीं। अन्त में बहुत विवश होकर उसने पति का त्याग किया।

अब सुधाकर थोड़ी देर तक चुप रहा अन्त में धीरे-धीरे बोला—सुनो ललित, एक दिन था, जब बिन्दो एक सम्भ्रान्त परिवार की नव-बधू थी। उसके पति एक ताल्लुक़दार के इकलौते बेटे थे। खाने-पीने की उसे कमी नहीं थी। महलों के भीतर वह रानी की भाँति रहती थी। किन्तु फिर भी वह दुखिया थी।

ललित बोला—संसार के अधिकांश व्यक्ति केवल काल्पनिक दुःखों से दुखी रहते हैं। वे कभी सुखी नहीं हो सकते। कोई भी व्यवस्था उन्हें सुखी नहीं बना सकती।

"किन्तु बिन्दो का दुःख" सुधाकर बोला—कोरी कल्पना

न होकर वास्तविक था। बात यह थी कि उसे स्वामी का स्वस्थ मन प्राप्त नहीं हो सका था। यहाँ तक कि उसका दुःख जानने-समझनेवाला जो एक दूरागत भाई था मैं, वह भी उस परिवार में वहिष्कृत था। मिलना दूर रहा, उसका पत्र भी उसे प्राप्त नहीं हो सकता था। स्थिति यहीं तक रहती तो भी बिन्दो उस बध-शाला में खप सकती थी, तिल-तिलकर जल सकती थी। जीवन को कीट-पतंग की भाँति मसल डालना भी उसे स्वीकार था। किन्तु हुआ यह कि उत्पीड़न के घावों से जब वह इस भाँति गल रही थी, तब उसके साथ व्यवहार किया गया नारकीय। उस पर चार्ज लगाया गया कि वह कुलटा है।

ललित बोला—और मेरी धारणा है कि इसमें सत्यांश भी अवश्य रहा होगा।

अबकी बार सुधाकर अपने को संयत न रख सका। वह गरज उठा। बोला—सत्य? बदबूदार सम्पन्नता के ग़ुलाम!—तुम क्या जानो, सत्य किस चिड़िया का नाम है? जो लोग रोटी और वासना की अनवरत भूख से कभी विकल और बेहोश नहीं हुए, उन्हें सत्य जैसे महातत्व के साथ मज़ाक करने का कोई हक़ नहीं है। सत्य स्वप्न नहीं है—कल्पना भी नहीं है। सत्य तो साधना की चिनगारी है, अनुभूति की कटुता और वेदना का चीत्कार। क्या आप सोचते हैं कि सत्य केवल उज्ज्वल-ही-उज्ज्वल होता है? आपको मालूम होना चाहिए कि सत्य का एक पक्ष काला भी है। किन्तु यह तो हुई उस पर स्थूल दृष्टि। सत्य सूक्ष्म किन्तु आन्तरिक दृष्टि से अन्तर के ज्वालामुखी की उज्ज्वलता का धूमिल विस्फोट है।....इसीलिए बिन्दो यह अभियोग सहन न कर सकी। उसका नारीत्व हुंकार कर उठा। पति को त्याग देने पर वह विवश हो गई। कुलीनता के परम्परा-बद्ध गौरव पर एक

धिक्कार डाले बिना उसको चैन न मिली। और इस प्रकार वह जैसे मूर्तिमान विद्रोह बन गई।

सुधाकर की उग्र भाषा से ललित ज़रा भी विचलित नहीं हुआ। वह बोला—तो इसमें ख़ास बात क्या हुई? मानवता का चाहे जितना विकास हो गया हो, किन्तु नारी की जन्मजात प्रतिहिंसा अब तक पूर्ववत् है। दूर क्यों जाऊँ, ये साधारण इरानी छोकड़ियाँ, जो हमारे इस निर्जीव और अकर्मण्य देश से केवल चाक़ू बेंचकर सहस्रों रुपये बना ले जाती हैं, इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि जो प्रेमी इन्हें सन्तुष्ट नहीं कर पाता, उसका ये प्राण तक ले लेती हैं।

घनश्याम अभी तक चुप बैठा था। वह यद्यपि बिन्दो के सम्बन्ध में कोई अनादर की भावना नहीं रख पा रहा था, तो भी उसने कहा—भाई सुधाकर, मैं यह जानना चाहता हूँ कि कोरी प्रतिहिंसा रखकर, किसी निश्चित कार्यक्रम के बिना क्या हम जीवन की सफलता देख सकते हैं? आप ही बिन्दो के साथ रहते हैं। मुझे पता है कि आपके कई एक ऐसे साथी भी हैं, जो सूने में बिन्दो के यहाँ आते-जाते हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि आपने समय-समय पर अपने उन साथियों को जेबें भी साफ़ की हैं। बल्कि बुरा न मानें, तो मैं कहूँगा कि आपने यही अपनी जीविका बना रक्खी है। मैं पूछता हूँ, अपने ऐसे आचार में आपने सफलता का कौन-सा मार्ग निश्चित समझा है?

सुधाकर बोला—जीवन की सफलता असफलता क्या चीज़ है, इसको आप लोग मुझसे अधिक जान सकते हैं। जेबें मैंने अगर मित्रों की साफ़ की हैं, तो उनकी मानवी सहानुभूति का शोषण करके नहीं; उनकी हार्दिक भावना का आदर करने के कारण। आज ही अगर आप लोगों का अपनत्व मुझे बाध्य

न करता, तो मैं इस बोतल की मोह-माया पर थूक देता। तुम मुझे समझते क्या हो ?

घनश्याम और ललित दोनों ने ही अनुभव किया, सुधाकर की भौंहों में चढ़ाव आ रहा है। और उसी क्षण उस अर्ध भरी बोतल को उठाकर उसने सीमेंट के फ़र्श पर दे मारा। सारा का-सारा द्राक्षाफेन बह चला और बोतल के टुकड़े-टुकड़े हो गये।

सुधाकर अब उठकर खड़ा हो गया था। घनश्याम और ललित भी आतंकित होकर उठ खड़े हुए। उत्तेजित ललित बोला—इसके बाद अब शायद नम्बर मार-पीट का आ रहा है, क्यों ? कम-से-कम इरादा तो मुझे ऐसा ही जान पड़ता है।

किन्तु सुधाकर भीतर से शान्त था। बोला—जी नहीं, मैं इतना गिर नहीं सकता। तुमने मेरे चरित्र पर हमला किया था। उसी का यह एक छोटा—टुकड़े की शकल का—उत्तर था। अब रह गई बात बिन्दो के चरित्र की। सो उसका भी परिचय मैं तुम्हें अभी दिये देता हूँ।

× × ×

वह अब एक ओर जाकर दरवाज़े की कुंडी खटखटाने लगा। एक मिनट, डेढ़ मिनट तक वह वहीं स्थिर खड़ा रहा।

ललित बोला—अब तो डेढ़ बज गया सुधाकर भाई ! हम लोगों को माफ़ कर दो। बाक़ी कल पर स्थगित रक्खो।

ऐसी-तैसी तुम्हारे कल की। सुधाकर बोला—मैं केवल आज पर विश्वास करता हूँ।

अभी वह इतना कह ही पाया था कि तुरन्त एक द्वार खुल गया।

सुधाकर बोला—आइये, यहाँ आकर ज़रा देखते चलिए।

अब आगे-आगे हुआ सुधाकर, पीछे-पीछे ललित और

घनश्याम। लाइट ऑन और आफ़ करते हुए लगातार इधर-उधर कई कमरे उसने इन लोगों को दिखलाये। सबके सब ऐसे युवक, अधेड़ तथा वृद्ध—निद्रित तथा अर्ध-निद्रित—स्त्री-पुरुषों से भरे हुए थे, जो अपाहिज, रुग्ण और अनाश्रित थे। अब सुधाकर ने कहा—इनका न तो जनता ने खाने-पीने और रहने का कोई प्रबन्ध किया—न सरकार ने। नित्य ही इनका जीवन मृत्यु का एक मूक आह्वान बना हुआ था। पशुओं की जिन्दगी तो कुछ महत्त्व भी रखती है। इनकी जिन्दगी उनसे भी बदतर थी।

सुधाकर कहता चला जा रहा था—आपने देखा, ये सब धीरे-धीरे स्वस्थ, किन्तु नीरोग हो रहे हैं। आज इनके बदन से सड़ाँध की बदबू नहीं आती, न यहाँ से निकलते हुए आज आपको जेब से रूमाल निकालने की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु एक दिन था, जब यही लोग सड़क पर भिखमंगों की उस शकल में मिलते कि इनके पास खड़ा होना भी आपको स्वीकार न होता। अपाहिज होकर भी ये लोग अपनी शक्ति और योग्यता के हिसाब से आज किसी न किसी धंधे में लग जाने योग्य बन रहे हैं। किन्तु क्या आपको यह मालूम है कि इनकी सुधि किसने ली है? मरघट की ही ओर देखते रहने, जीवन में नित्य अँधेरा-ही-अँधेरा पाने और भूख-ही-भूख की ज्वाला में जलनेवाले इस वर्ग को जानते हो किसने आशा की ज्योति, जीवन की साध और उत्साह की किरण दी है? केवल छः-छः मास की चिकित्सा, साक्षरता और काम-काज में जुटने के अभ्यास और प्रयोगों से ही इनके जीवन के बुझे दीपकों में स्नेह, बाती और उसके ज्वलन्त आलोक की प्रेरणा आ गई है। मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि क्या हिन्दो के आचार-धर्म का यह कोई आदर्श नहीं है?

गांधीवादी घनश्याम चुप रहा और तार्किक ललित मौन।

तब सुधाकर बोला—जो लोग आचार-धर्म के व्यापक महा-तत्व को न देखकर केवल व्यक्तित्व के अँधेरे, गोपनीय और व्यक्तिगत पहलू की ओर देखते हैं, क्या मैं आपको बतलाऊँ कि वे उनकी उज्ज्वल मानवता को न देखकर, देखना चाहते हैं उसके वे नग्नांग, सभ्यता ने जिन पर आवरण डालकर, वन्य जीवन से उठाकर, उन्हें आज नागरिक बनाया है।

सम्भव है, बातें और आगे बढ़तीं, किन्तु उसी क्षण एक ओर टेबुल पर सुधाकर की दृष्टि जा लगी। झट से वह उसी ओर जा पड़ा। एक बादामी कवर के भीतर उसमें था बिन्दो के नाम एक तार, जिसके शब्द थे—

तुम्हारा उद्देश्य और कार्य-क्रम मुझे स्वीकार है। मैं कल सवेरे की ट्रेन से आ रहा हूँ।

—त्रिलोकीनाथ

पास खड़े ललित ने पूछा—क्या है?

और घनश्याम ने तार उसके हाथ से छीन लिया। पढ़कर तुरन्त उसने पूछा—यह त्रिलोकीनाथ कौन हैं?

एक प्रशान्त किन्तु उज्ज्वल मुस्कराहट के साथ सुधाकर बोला—हमारी सभ्यता ने जिसका नाम रखा है—पति।

बुद्धू

आज शुक्रवार का दिन है। है न शुक्रवार ही हाँ, ठीक तो है। कल वृहस्पतिवार था, आज शुक्रवार है। बस, आज ही का दिन था। मैं सबेरे उठकर, धोती बग़ल में दबाये, नंगे बदन और नंगे पाँव गङ्गा-स्नान को सरसैया-घाट की ओर जा रहा था। वर्षा के दिन थे सही, तो भी कई दिनों से न तो पानी ही बरसा था, न उस दिन बदली ही थी। सबेरा अभी हुआ ही था। जल्दी चलने के कारण शीतल समीर के मन्द-मन्द झोंके मेरे शरीर में लिपट-लिपटकर मुझे लहरा जाते थे। बड़ा ही सुहावना समय था। जैसा सुहावना वह समय था, सच जानो भैया, मेरा मन भी, बस, वैसा ही निर्विकार था। कहीं

भी किसी प्रकार की चिंता मेरे मन में न थी ; वैसी कोई जगती हुई इच्छा भी कहीं न तो साकार रूप में देख पड़ती थी, न निराकार किंवा नीरव रूप में ही। स्त्री का स्वर्गवास हुए कई वर्ष बीत गये थे। बड़ा लड़का अब कमाने-खाने लगा था। वह एक स्कूल में अध्यापक हो गया था। छोटी कन्या श्यामा का ब्याह हुए पूरे तीन वर्ष बीत गये थे। उसका गौना भी हो चुका था। और कोई संतान न थी। यदि उस समय मेरी यह लीला भी समाप्त हो जाती, तो कोई बात मेरे लिये दुःख किंवा पश्चात्ताप की न होती। अब आप यह अच्छी तरह जान गये होंगे कि मैं अपने-आप उस समय कितना शान्त रहा होऊँगा।

हाँ, तो जैसे ही मैं थियासोफ़िकल कालेज से आगे बढ़ा, वैसे ही एक कनक-वर्ण रमणी एक ओर सड़क पर बैठ अधलेटी कराहती हुई मुझे देख पड़ी। "अजी, यह तो संसार है। यहाँ तो यह सब है ही। इसमें नई बात क्या ?"—सोचकर पहले तो इस रमणी की उपेक्षा करते हुए, उसकी ओर बिना देखे ही आगे बढ़ गया ; पर थोड़ी ही दूर जाकर मुझे अपने मन के इस भाव को दबाना ही पड़ा। कारण, ठीक उसी समय मेरे अंतराल के भीतर एक दुन्दुभी-सी बज उठी। जैसे चपला रानी गहरी अँधेरी रात में आँगन में एक बार कौंध उठती है, वैसे ही मेरे भीतर की चपला एक बार मुझे अच्छी तरह से झकझोर गई। ऐसा जान पड़ा, जैसे मनुष्यता से नीचे गिरकर मैं पशु-जगत् की बात सोचने लगा था। घृणा की घृणा एक छोर से दूसरे छोर तक मेरे अन्तर में भर गई। कोई कहने लगा—जैसे चाबुक मेरी पीठ पर कसकर लगा गया हो—"ये संसार के पीड़ित, व्यथित, घायल हृदय हैं ; इनके प्रति उपेक्षा क्यों ? ये तुम्हारे कुटुम्बी हैं, तुम्हारी बहनें हैं, बेटियाँ हैं ; इनसे घृणा क्यों ?"

यह सोचना था कि मैं लौट पड़ा। देखा—उसका गोरा-सा, फूल-सा, पत्ती-सा, सुन्दर किन्तु कुम्हलाया हुआ मुख है; मैली, पंकवर्ण की धोती-मात्र उसके शरीर से चिपकी हुई है, जिसमें यत्र-तत्र रक्त के एकदम पक्के पड़े हुए दाग़ हैं। एक नवजात शिशु को वह अपनी छाती से चिपकाये हुए है।

मुझे निकट पाकर वह कुछ झिझकी, कुछ शरमाई। पहले उसने मेरी ओर एक बार सिर से पैर तक देखा, फिर मुँह नीचे कर लिया। फिर तुरन्त पेट पकड़कर रह गई। पीड़ा के मारे उसकी आँखें झप गईं। एकाएक उसके मुँह से निकल पड़ा—"उफ़! मौत भी मुझे नहीं चाहती!"

दो-एक मिनट तो मैं उसे इकटक, स्तब्ध और मूर्तिवत् खड़ा रहकर देखता रहा। फिर जब अस्तव्यस्त हो उठा, तो मैंने उससे पूछा—"बहन, क्या तुम्हारे कोई नहीं है क्या अभी-अभी सड़क के किनारे ही तुमने यह बच्चा जना है? क्या पेट में बहुत पीड़ा है?"

आपने सुना मैंने एक साथ ही उससे तीन प्रश्न कर डाले।

उसने उत्तर में कुछ न कहकर एक बार फिर मुझे देखा, एक बार फिर वह पीड़ा से विह्वल हो उठी। एक क्षण के अनंतर उसने अपना पेट एक हाथ से दाबे हुए कहा—"भैया, मैं एक दुखिया नारी हूँ; मेरे कोई नहीं है।"

और, इसके बाद वह रोने लगी। मैं किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर वहीं खड़ा रह गया। न मुझसे कुछ कहते बना, न कुछ कर सका। लेकिन भला तुम्हीं सोचो, मैं बिना कुछ किये कैसे रहता। एक तेज़ इक्का ले आया। उसे उठाकर, सहारा देकर, उस पर बिठाया और अपने घर ले आया।

अब वह मेरे घर में रहने लगी।

× × ×

कनक उस समय अपने स्वरूप को खिला रही थी ।

घर लाकर मैंने बड़े साहस का काम किया था। बार-बार मेरे हृदय में विभिन्न प्रकार के सन्देह-जनक प्रश्न उठते रहते थे। किसी का समाधान होता, किसी का न होता। अन्त में मैं सोच-साचकर तय कर लेता कि कुछ भी हो, जब मैंने उसे आश्रय दिया है, तब वह मुझे धोखा तो दे ही नहीं सकती।

कनक को जब मैं ले आया था, तब वह बहुत ही कृशकाय थी। पर इधर जबसे वह कुछ स्थिर रहने लगी थी, तबसे उसके स्वास्थ्य में बड़ा ही गम्भीर परिवर्तन हो रहा था। दिनोंदिन उसका रूप-लावण्य निखर रहा था।

इतने दिन बीत गये थे, परन्तु किसी भी दिन मुझे उसकी बीती बातों के सम्बन्ध में उससे कुछ भी जानने का न तो अवसर ही मिला था और न मैंने स्वयं ही इसकी चेष्टा की थी। उसके और मेरे बीच में यही एक ऐसी बात थी, जिसके कारण उसकी आँखों का शील—उसकी आन्तरिक लज्जा—अभी तक कुछ संकोच किंवा झिझक रखती आ रही थी।

कनक सदा प्रसन्न रहा करती थी, तो भी उसकी प्रसन्नता का रूप भीतर-बाहर एक-सा एक-रस, न था। सच बात तो यह थी कि वह बाहर से प्रसन्न रहने को चेष्टा करती रहती थी। बहुत दिनों तक मैं यह बात न जान सका कि कनक क्यों इस प्रकार सदा हँसती-सी रहा करती है। कारण चाहे जो कुछ हो; पर एक दिन मुझे यह बात मालूम हो ही गयी। एक दिन मैंने उसकी आँखों पर आँसुओं के सूखे हुए बूँद देख ही लिये।

कनक उस समय अपने 'स्वरूप' को खिला रही थी। आप जानते ही हैं, नारी हृदय के सुख की चरम सीमा उसके अपने प्राणोपम बच्चे पर स्थिर रहती है। सो उस समय कनक प्रसन्नता के मारे बिहँस रही थी। उसी समय, जब वह अत्यधिक प्रसन्न

देख पड़ रही थी, उसके कपोलों तक आये और सूखे हुए आँसुओं पर मेरा ध्यान एकाएक अटक गया।

तत्क्षण मैंने कनक की ओर देखकर, एकदम स्थिरचित्त होकर उससे पूछा—कनक, इतने दिन हो गये; परन्तु तुमने अभी तक मुझे यह जानने का अवसर नहीं दिया कि सौभाग्यवती होने पर भी आखिर तुम्हें पथ की भिखारिणी क्यों बनना पड़ा।

एकाएक मेरे इस प्रश्न को सुनकर कनक कुछ अप्रतिभ हो गयी। परन्तु उसने तुरन्त अपने-आपको सम्हाल लिया। वह बोली—हाँ भैया, अभी तक कभी ऐसा संयोग ही नहीं आया कि मैं इस विषय में तुमसे कुछ कहती। मैं सदा यही सोचा करती थी कि तुम्हारा यह कैसा विचित्र किंतु देवोपम मन और स्वभाव है कि एक अपरिचित नारी भी तुम्हारी शरण में इतने अधिक सुख-संतोष के साथ अपना जीवन-यापन कर सकती है। सचमुच मैं तो यह सोच भी न सकती थी कि कोई ऐसा भी पुरुष हो सकता है, जो मेरी जैसी परिस्थिति में मुझे आश्रय देकर फिर कभी उसके संबंध में यह तक जानने की चेष्टा न करेगा कि आखिर उसका अपना इतिहास क्या है!

मुझे ऐसा जान पड़ा, जैसे मैं अपने स्थान से गिर गया हूँ। कितना अच्छा होता यदि मैंने उसके इस संशय को—इस कल्पनातीत आदर-भाव को—ज्यों-का-त्यों अक्षुण्ण ही रक्खा होता।

वह बोली—लेकिन अभी वह समय आया नहीं है। आज आपने मेरे अतीत को जानने की इच्छा प्रकट कर दी, यह अच्छा ही हुआ। अब किसी दिन मैं स्वयं ही वे सब बातें आपको बतलाऊँगी। आपको उतना अधीर भी नहीं देख रही हूँ। ऐसी बात होती, तो इन बातों की जानकारी आप पहले ही दिन प्राप्त कर लेते।

× × ×

उस दिन कनक ने वह बात कुछ काल के लिए स्थगित तो कर दी, लेकिन मेरे मन की दशा में विपर्यय उपस्थित हो गया।

—"आखिर वह बात क्या है, जिसको उसने कुछ काल के लिए टाल देना चाहा है! क्या वह सब बातें यथार्थ रूप में नहीं बतलाना चाहती? क्या कोई बात सचमुच रहस्य की है और तत्काल उसे प्रकाश में ला देना अनिष्टकर है?"

मैं दिन-रात यही सोचने लगा। ज्यों-ज्यों मैं इस प्रश्न पर मन-ही-मन विवाद करता, त्यों-त्यों मेरा मन अस्थिर होता जाता था।

एक सप्ताह इसी तरह बीत गया। अब मुझसे रहा न गया। मैंने उसे उस बात के स्मरण दिलाने का निश्चय कर लिया। कुछ सोचकर, कुछ ठहरकर, मैं कनक के निकट गया, तो देखता क्या हूँ, कनक सिसक-सिसककर रो रही है।—स्वरूप एक ओर पालने में सो रहा है।

कनक को रोते हुए देखने का यह मेरा पहला ही अवसर था। सो उसे इस दशा में देखकर मैं जरा ठिठक गया, चुपचाप दरवाजे की ओट में खड़ा हो गया। इस दशा में खड़े हुए दस मिनट से अधिक हो गये; पर न तो मैं आगे ही बढ़ सका, न पीछे हट सका। अन्त में मेरे हृदय की दशा कुछ ऐसी हो गयी कि मुझसे वहाँ खड़ा नहीं रहा गया। जैसे ही मैं वहाँ से लौटने लगा, कनक ने आगे बढ़कर पूछा—कौन? भैया?

मैंने खड़े होकर जरा-सा घूमकर कह दिया—हाँ, मैं ही हूँ।

"कैसे आये और कैसे चल दिये।"

"यों ही चला आया था। कोई विशेष बात नहीं।"

"हूँ, सो तो जानती हूँ। लेकिन यदि आज आपको अवकाश हो, तो अपनी कथा आपको सुना जाऊँ।"

"मैं तो यह चाहता ही था। फिर भी इस समय अनुकूल अवसर न देखकर मैंने कह दिया—जल्दी क्या है, फिर कभी बता देना। देखता हूँ, आज तुम्हारा जी दुखी है।"

"जी दुखी है, सो क्या हुआ!—जी तो दुखी-सुखी रहा ही करता है। मेरे इस जी की बात को जाने दीजिए। चलिए, उधर ही बैठिए। वहीं मैं आपको अपनी कथा सुनाऊँगी।"

अपनी बैठक में एक कुरसी डालकर मैं बैठ गया। सामने आरामकुरसी थी। उसी पर मैंने उसे बैठ जाने को कह दिया। मैंने इस समय कनक को बहुत ध्यान से देखा। उसके कुंदन-वर्ण मुख पर लालिमा छायी हुई थी। उसकी बड़ी-बड़ी सलोनी आँखें रक्तमयी हो रही थीं। ऐसा जान पड़ता था, जैसे उनसे आग की चिनगारियाँ-सी निकल रही हैं।

बैठते ही उसने कहा—मेरे कहने पर ज़रा भी दुखी न होइएगा। यह मैं पहले से चिताये देती हूँ। नहीं तो मुझे बड़ा दुःख पहुँचेगा और फिर उसका न-जाने क्या परिणाम हो?

पास ही टेबिल पर एक नक़्क़ाशीदार पत्थर का पेपरवेट रक्खा था। अपने संयम को उसी में उलझाते हुए उसने कहना शुरू किया—

कभी मेरा जीवन बहुत ही सुखी था। चिड़ियों का चहचहाना पत्तियों का डोलना, कलियों का खिलना, सुकुमार पुष्प-दलों का बिखरना, कोयल के बोल, मयूरों का नर्तन, मृगछौनों का भोला-पन, सरिता की कल्लोलमयी धारा, बालुकामय कगारों का सहस्र-धाराओं से झरना और विस्मयोत्पादक चित्रांकण करना, बच्चों का हँसना-किलकना, नवविवाहिता ललनाओं का सखियों से इठलाना, प्यार की बातें, चाँदनी रातें, वर्षा की रिमझिम, संध्या का समीरण, उषा का मौन गान, ताराओं का वार्तालाप आदि-

आदि सृष्टि की निखिल छटा मुझे बड़ी प्यारी मालूम होती थी। मैं अपने माता-पिता की अकेली संतान थी। खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने की कमी न थी। बालिकाविद्यालय की छाया के तले मैंने बहुत कुछ पढ़ा, सीखा और समझा। संसार में मुझे सभी कुछ अच्छा और सुन्दर प्रतीत होता था। जहाँ कहीं भी मेरी दृष्टि जाती, वहाँ मुझे आमोद-प्रमोद और उल्लास-ही-उल्लास नजर आता।

"जैसा सुखी मेरा जीवन था, वैसा ही मेरा सौभाग्य भी था। मेरे पति देवोपम थे। वह मुझे चाहते ही नहीं थे, मुझ पर प्राण न्योछावर करने को प्रस्तुत रहते थे। मुझे कभी उदास तो देख ही न सकते थे। कभी-कभी ऐसा अवसर आया कि एकआध दिन को मेरी तबियत ज़रा ख़राब हो गयी, तो उन्होंने अपना सारा काम-धाम छोड़ दिया। मैंने उपवास पीछे किया, उन्होंने पहले। मैं दूध पीती तो वह भी दूध पी लेते। मैं ज़रा संतरे का रस चूसती, तो वह भी मेरे समक्ष उतना ही रस चूस लेते। मुझे उनके इस स्वभाव को देखकर कभी-कभी झुँझलाहट होती; मैं बिगड़ने लगती, तो वह कहते—तुम चाहे जो कुछ सोचो कनक, लेकिन मेरा सुख इसी में है। मैं इसी तरह प्रसन्न और सन्तुष्ट रह सकता हूँ। मेरे जी में सदा यही बात समायी रहती है कि मैं तुम्हीं में आत्मसात् होकर रहूँ। विधाता ने मनुष्य का जीवन भी कैसा विचित्र बनाया है। मनुष्य जो चाहता है, वह कर नहीं सकता। यही देखो कि हमको और तुमको अलग-अलग बनाने की जरूरत क्या थी उसे! अरे, एक ही बनाया होता। और, यदि अलग-अलग शरीर बना ही दिये थे, तो इतनी तो शक्ति और देता कि हम तुम दोनों आत्मा और शरीर दोनों में एक होकर रहते।

कनक यह कहते-कहते रोने लगी। एकबारगी उसकी सिसकियाँ एक के बाद एक छूट पड़ीं।

मैंने कहा—जाने दो इस प्रसङ्ग को। और बातें करो।

वह उसी तरह रोती हुई बोली—जाने कैसे दूँ इन बातों को। मेरी यही तो सब बातें हैं।

अब उसने अपनी आँखें पोंछ डालीं। ज़रा देर ठहरकर उसने फिर कहना शुरू किया—हाँ, तो मैंने आपको अभी बतलाया कि वह कहने-भर को ही नहीं, सचमुच देवता थे। जब तक जीवित रहे, तब तक मैं उनका मूल्य न समझ पायी। मैं उन्हें चिढ़ाती रही, उन्हें खिझाती रही और उनको कभी-कभी कष्ट भी देती रही। मैं चाहती थी कि वह अपने नौकरों को डाँटें, उन्हें गालियाँ दें, उन्हें ठोकर मार-मारकर अपना रोब दिखलाएँ। मैं चाहती थी कि वह अपने घर और भाइयों में इतने बड़े और ऊँचे बनकर रहें कि कोई उनके सामने चूँ भी न कर सके। मैं चाहती थी कि वह अपनी ज़मींदारी का कारबार कठोरता-पूर्वक चलाएँ और निरंतर अपनी जायदाद और मालियत बढ़ाते रहें। मैं यह भी चाहती थी कि वह इतना सम्मान, सम्पत्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त करें कि सचमुच राजा होकर रहें। मेरी इन सब इच्छाओं के लिए उनका उत्तर था—तुम यह सब क्या सोचती हो कनक! तुम्हारीइन बातों को सुनकर मुझे बड़ा दुःख होता है। मनुष्य का जीवन इसलिए तो होता नहीं। मनुष्य ने यदि दूसरों को कुत्ता और चूहा समझकर, उनको रौंद-रौंदकर, उनके मुँह की रोटी छीन-छीनकर ही मान और प्रतिष्ठा का मिथ्या दंभ अर्जित किया, तो क्या किया? और यह सब वह करे भी तो कितने दिन के लिए और किसके लिए?

"हाय! उस समय मुझमें इतनी बुद्धि ही न थी कि मैं उनकी इन बातों का महत्त्व समझ सकती! मैं नहीं जानती थी कि जो

सुमन इतना अधिक मोहक रूप-सौरभ बिखेरते हैं, उनकी जीवन लीला क्षणिक होती है। जब वह कहते थे कि "कनक, तुम मेरी जीवन-सरिता हो, मेरे साथ-साथ प्रवाहित होती चलो"—तब मैं तो इस बात की कल्पना तक न कर सकती थी कि एक समय ऐसा भी आयेगा, जब मैं उन्हें निधन होते हुए देखूँगी····। एक दिन उन्होंने यह भी कहा था—कनक, मैं चाहता हूँ, तुम इस योग्य तो बन जाओ कि इस जगत् के मिथ्या एवं सत्य स्वरूप को समझ सको; संसार में क्या है और क्या नहीं है, इसको अच्छी तरह जान सको। मैं नहीं जानती थी कि उनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि 'यदि मैं न भी रहूँ, तो भी तुम अपने-आपको सम्हाल सको।' परन्तु मैं तो अपने जीवन के सुखमय स्वप्नों की क्रीड़ा में ऐसा लीन थी कि मुझे इन आलोक-रश्मियों का भान तक न हुआ। एक दिन वह बहुत थके-माँदे आये और आते-ही-आते पलँग पर लेट गये। मुझसे बोले—कनक, आज मेरे सिर में भयंकर दर्द हो रहा है। कहीं जाना नहीं, यहीं मेरे पास बैठना।

उनका इतना कहना था कि मेरे प्राण सूख गये। बार-बार अनिष्ट के काल्पनिक चित्र मेरी आँखों के सामने आने और जाने लगे। ओरियंटल बाम आदि सिर दर्द की अनेक शीशियाँ खोलकर मैं बराबर उनके सिर की मालिश करती रही, यकायक उनकी आँखें झप गयीं तो मैंने समझा, उनको कुछ शांति मिली है, इसीलिए नींद आ गयी है। सो लेंगे तो तबियत ठीक हो जायगी। यही सोचकर मैं थोड़ी देर को वहाँ से उठकर चली आयी। मैं चली तो आयी, लेकिन मेरा मन न माना। फिर उठी, गयी; फिर आयी और जरा देर बाद फिर चली गयी। इसी प्रकार दो घंटे बीत गये।

उस समय सायंकाल के सात बज गये थे। रजनी का अन्धकार सर्वत्र फैल गया था। लैम्प के प्रकाश में मैंने देखा—उनके मस्तक पर पसीने की बूँदे झलकने लगी हैं। एक प्रकार का संतोष-सा हुआ, सोचा—अब तबियत ठीक हो रही है। पर ज्यों ही मैंने उनके शरीर पर हाथ रक्खा, त्यों ही देखती क्या हूँ कि शरीर तो आतप से जल रहा है। तुरन्त वैद्य बुलाया, फिर डाक्टर बुलाये; पर रात-भर उन्होंने आँख न खोली।

सबेरा हुआ और पाँच बजे। यकायक वह चेतन हुए, उस समय उनके बदन का आतप भी शांत हो रहा था। मैंने पूछा—कैसी तबियत है? उन्होंने पहले तो कहा—अच्छी है, फिर कुछ सोचने और पुनः कुछ कहने की चेष्टा की; फिर ठहर-ठहर-कर बोले—मैं बहुत थोड़े दिनों के लिए तो आया ही था, पर मुझे दिन बहुत लग गये। अब मैं जाता हूँ। बहुत दूर जाना है। तुम—तुम मेरे साथ न चल सकोगी। पीछे से आना। मेरे लिए दुखी न होना। जब हम पाते हैं, तब यह नहीं सोचते कि कैसे पा गये। किस प्रकार कितने काल के लिए पा गये। तब यही क्यों सोचें कि हाय, कुछ न हुआ—कुछ न किया। यदि जानते कि ऐसा होगा, तो यह कर लेते, वह कर लेते। हम आगे की बात तो तब जानते हैं, जब वह वर्तमान में आ जाती है। तो फिर जब वर्तमान में अतीत का भविष्य आता है तो वर्तमान के भविष्य को हम क्यों भूल जाते हैं? मैंने तुमको अपने जीवन में जो कुछ बनाने की चेष्टा की, जब मैंने देखा, तुम वैसी मेरे जीवन में न बन सकोगी तो अब देखता हूँ, शायद मैं अपने अजीवन से ही तुमको वैसा बना सकूँ। और जैसे हमारा और तुम्हारा संयोग हुआ, वैसे ही जीवन और अजीवन का भी तो संयोग होता है। मुझे पूरी आशा है, मेरा अजीवन तुमको

जीवन देगा। बस, इतना कहना था कि उनका शरीर प्राण हीन हो गया!

× × ×

सचमुच, जैसा उन्होंने कहा था, ठीक वैसा ही हुआ।

कुछ दिनों से सन्तान की माया ने मुझे आच्छन्न कर रक्खा था। मैं सन्तान की लालसा में निरन्तर उन्मन रहने लगी थी। हाय, मैं तुमको कैसे समझाऊँ कि उन दिनों मैं सन्तान के लिए बिलकुल पगली हो गयी थी। और घटना-चक्र तो ज़रा देखो, जिस वर्ष उनके जीवन का अवसान होने जा रहा था, उसी वर्ष मेरे गर्भ रह गया, मेरे सामने उस समय आशाओं का महासागर लहराया करता था। सुनहले स्वप्नों के हिंडोलों में ही मैं सदा झूलती रहती थी। सो मैंने यह सुख भी उपलब्ध किया, परन्तु कब? जब वह, मेरे प्राणों के प्राण, मेरे जीवन के आधार, इस संसार से उठ गये। उनकी इहलीला जिस दिन समाप्त हुई उसी के दूसरे दिन मैंने पुत्र का मुख देखा। तब मुझे याद आ गया कि उन्होंने कहा था—मेरे अजीवन से तुम्हें जीवन मिलेगा। अब ज़रा तुम्हीं सोचो, उन्होंने कितनी सच्ची बात कही थी!

परन्तु सच पूछो तो उनकी सच्ची बात को मैं उस समय भी नहीं समझ सकी। पति-वियोग का दुःख मुझे उतना नहीं रह गया, जितना पहले था। हाँ, मैं केवल यही सोचती थी कि यदि वह भी जीवित होते और मेरे इस सुख के भागी हो सकते, तो मैं कितनी सौभाग्य-शालिनी होती! परन्तु मेरा यह सोचना भी क्षणिक सिद्ध हुआ। हाय मेरा जीवन, मेरी आशा, मेरा सर्वस्व वह पुत्र भी चल बसा! लेकिन तब मैंने जीवन पाया! जानते हो कैसे? मैं पागल हो गयी!

पगली के लिए सारा संसार सपना है। जिस बच्चे को वह देखती है, वही उसका अपना होता है। इसी प्रकार वह जिसको चाहती है उसी को अपना पति, भाई और बन्धु बना लेती है, समझ लेती है, और मान लेती है! सभी उसके अपने सगे होते हैं। उसके लिए संसार में कोई दूसरा नहीं है—कोई उसका शत्रु नहीं है। सो भैया, तुमको यह जानकर आश्चर्य होगा कि मैं पागल तो हो गयी, पर ज्ञान का आलोक मेरे रोम-रोम में भिद गया। अब मैंने समझा कि जीवन क्या है, मृत्यु क्या है, और सुख क्या है?

अपनी उस अवस्था में कितने जंगल, कितने निर्जन मैदान, गाँव, नदी-नाले मैंने पार किये, कैसे बताऊँ, क्या बताऊँ और बतलाने की जरूरत ही क्या है। अन्त में मैंने देखा कि मुझमें ज्ञान का अभाव नहीं है, केवल संसार का प्रभाव मुझ पर है। सो अपने ऊपर पड़े हुए संसार के उस प्रभाव को भी धीरे-धीरे मैंने शांत कर डाला। मैं विधवा हूँ तो क्या हुआ, निस्सन्तान हूँ तो क्या हुआ! मैं कुछ हूँ तो। और मेरे लिए इतना ही कौन कम है! यदि मैं हूँ, सत्य में हूँ, सुख-दुख से परे हूँ, पूर्ण-अपूर्ण से मुक्त हूँ, तो यही बात मेरे अस्तित्व के लिए कौन कम है? यदि मेरा अन्तःकरण जीवित है, जागृत है और जैसा कुछ मैं सोचती हूँ, वैसी बन सकती हूँ, वैसा कर सकती हूँ—तो मैं जरूर हूँ। यदि ऐसी बात नहीं है, तो मैं भी नहीं हूँ।

तुम यह बच्चा जो मेरी गोद में देखा करते हो, इसे भी मैंने अपना इच्छानुसार पाया है। यह मुझे एक निर्जन, मल-मूत्र से भरे कूड़ेखाने में अचानक मिल गया। मैंने इसे देखा और तुरन्त कह दिया—तू यदि मरा भी हो तो भी मेरे लिए जी जा। सौभाग्य से वह जीवित निकला और तुम इसे इस अवस्था में

देखते ही हो! इसी प्रकार मैंने समझ लिया है—मेरे प्राणों के प्राण कहीं-न-कहीं होंगे ही, उन्होंने कहीं-न-कहीं तो जन्म लिया ही होगा। तो फिर मैं विधवा कैसे हुई! न, न, मैं विधवा नहीं हूँ, मैं तो चिरसौभाग्यमयी हूँ!

उस दिन तुमने मुझे वहाँ पेट की पीड़ा से कराहती हुई पाया था न। पर ऐसी बात वास्तव में न थी। वह तो मेरी आकांक्षा का एक रूप था। ऐसा न होता, तो मेरे स्तनों से इस बच्चे के लिए तत्क्षण दूध की धारा कैसे फूट पड़ती!

× × ×

राजीवलोचन इतना कहकर रुक गया। सुधाकर बोला—सब-की-सब कोरी भावुकता की बातें हैं। एक तरह की अस्वस्थता ही इनमें झलकती है। न मनुष्य का तरुण हृदय इनमें बोलता है, न मस्तिष्क। मैं ऐसी बातें अक्सर कम सुनता हूँ।

इसी समय राजीवलोचन कुछ अस्त-व्यस्त हो पड़ा। बोला—पर यार कहते संकोच होता है। उसके फिर बच्चा होनेवाला है!

आशंका

अनंत इस समय अतिशय प्रसन्न है। उमंग में आकर वह कभी-कभी कुछ गुनगुनाने लगता है। आज उसकी आत्मा में आनंद जैसे स्वतः असीम हो उठा है। अमंद मलयानिल के झकोरे जैसे शरीर के रोम-रोम को अपने मृदुल स्पर्श से तरंग-तरलित कर देते हैं, आज अनत के मन-प्राण को उसी प्रकार मानो किसी अकल्पित माधुर्य ने स्वतः अनुधावित हो प्रतिग्रह कर लिया है।

अनंत अपनी बैठक में अकेला बैठा है। उसके हाथ में फ़ाउंटेन-पेन है, सामने राइटिंग-पैड। वह कुछ लिखना चाहता है। उसने थोड़ा-सा लिख भी रक्खा है; पर अब आगे, बड़ी

देर से, चेष्टा करने पर भी, वह कुछ लिख नहीं सका है। उसके सामने, राइटिंग पैड के अतिरिक्त, काग़ज़ का एक टुकड़ा पड़ा हुआ है। वह बार-बार उस टुकड़े को देखता है, और फिर उसी भाँति रख देता है। बड़े उल्लास से वह आगे कुछ और लिखने की चेष्टा से कलम उठाता है। उत्फुल्ल मन से दो-चार शब्द लिख भी लेता है, पर फिर कुछ सोचकर कलम रख देता है।

काग़ज़ के इस टुकड़े का एक छोटा-सा इतिहास है। हाँ, छोटी-मोटी साधारण वस्तुओं का भी कभी-कभी इतिहास बन जाता है। इसी प्रकार अनंत के आगे पड़े हुए काग़ज़ के इस टुकड़े का भी इतिहास है।

यह काग़ज़ अनंत को एक पुस्तक में रक्खा हुआ अभी-अभी मिला है। उसके वर्ण ऐसी प्रगाढ़ मसि से अंकित हैं और उनका रूप आज भी वैसा ही उद्दीप्त है, जैसा कभी उनकी रचना के समय रहा होगा। उसके शब्दों से आज भी वैसी ही प्रकृत भावना का उद्भव होता है, जैसी उसके जन्मकाल में उसके स्रष्टा के अंतस्तल में रही होगी। कितने वर्ष आये और गये, किंतु उस भावना का मयूर-नर्तन आज भी वैसा ही विमोहक, उसके चारु संकेत आज भी वैसे ही अबोध सस्मित और उसके सौरभ-दोलन आज भी वैसे ही पुलकोद्यत बने हुए हैं।

एक युग बीत गया, अनंत जैसे इन्हीं अक्षरों की प्रतीक्षा में रहा है। प्रतीक्षा के भी अनेक रूप होते हैं। कोई किसी के मिलन की प्रतीक्षा करता है, कोई किसी के पत्र की, कोई मंगल-मय भविष्य की, अभीप्सित ज्ञानार्जन की, अकल्पित अपवर्ग की। पर आज तक ऐसा प्रतीत होता है, मानो यह अनंत एक मात्र इन्हीं अक्षरों की प्रतीक्षा में रहा है।

जिस पुस्तक में काग़ज़ का यह टुकड़ा अनंत ने पाया है, मालूम नहीं, वह कहाँ-कहाँ हो आई है। अनेक मित्रों के यहाँ वह महीनों-वर्षों पड़ी रही है, फिर भी काग़ज़ का वह टुकड़ा उसमें ज्यों-का-त्यों रक्खा है। किसी पाठक ने उसका स्पर्श किया है या नहीं, कौन जाने? बेचारा अचेतन पदार्थ क्या बताये कि वह कितने दिनों से समाधिस्थ है, कब कोई उसकी आत्मा के साथ निकट संबंध जोड़ने को अग्रसर हुआ है, और कब-कब, किस-किसने चरम उपेक्षा से उसकी ओर देखा तक नहीं है! अपने जन्म-काल से ही वह मौन है, यथावत् स्थिर है, अचंचल—निष्पंद। किंतु जब आज उसे अनंत बार-बार उठा-उठाकर देखता है, मस्तक से लगाता है, चूमता है, तब जैसे वह टुकड़ा भी मन-ही-मन सोच लेता है—मेरा भी कोई है; अभी मैं एकदम से वैसा निराश्रित नहीं हो गया हूँ।

जिस क्षण उस टुकड़े पर कुछ पंक्तियाँ किसी ने लिखी थीं, वह क्षण कैसा था, कौन कह सकता है? उस क्षण उसकी लेखिका के मन में कितना क्षीर-फेन—कैसा उद्वेलन—उठा था, बेचारा काग़ज़ का टुकड़ा क्या जानता नहीं है? किंतु कहे कैसे! जन्म से ही वह मौन है, और अंत तक उसे मौन ही रहना है।

ओह! इस क्षण अनंत काग़ज़ के इस टुकड़े को कितना प्यार कर रहा है! बेचारे टुकड़े ने कभी सोचा न था कि कोई कभी उसे इतना चाहेगा। हाथों का स्पर्श ही वह जानता आया है। कोमल, नन्ही-नन्ही, गोरी-गोरी, कमल-नाल-सी लचकीली उँग-लियों के मृदुल स्पर्श का भी स्मरण उसे हो रहा है; पर कोई उसका चुंबन भी लेगा, यह बात तो उसकी कल्पना से भी परे थी। तब तो यह उसका सौभाग्योदय है। अब क्या है!....अभी क्या हुआ है!........अब उसे जो कुछ भी सम्मान मिले, थोड़ा है।

कुछ स्वप्न है। किंतु अनंत ने वे स्वप्न समय-समय पर तंद्रिल हो-होकर नहीं देखे हैं। वे तो उसके जीवन के साथ लिपटे रहे हैं। जब कभी कोई स्वप्न उसके मानसर पर उतरा है, तब उसकी अवस्था कैसी प्रक्षिप्त, दिनचर्या कैसी अस्त-व्यस्त और चेष्टा कैसी क्लांत-कृश हो गई है, अनंत क्या कभी उसे भूल सका है ! वे स्वप्न, जो तंद्रिल मन के घाट पर उतरते हैं, नश्वर होते हैं—जागरूक प्राणियों के लिये उनका कोई अस्तित्व नहीं होता। किंतु जीवन के स्वप्न कभी मरते नहीं ; वे तो अक्षय होते हैं। उनमें कुछ ऐसा अमरत्व, कोई ऐसा सुधार्णव संश्लिष्ट रहता है कि युग-युग तक वे अविचलित रहते हैं। मानव-काया विनष्ट हो जाती है। किंतु मानवात्मा के वे स्वप्न जीवित ही बने रहते हैं।

अनंत के वे स्वप्न भी कुछ इसी प्रकार के हैं।

× × ×

विवाह के समय, ससुराल ही में, अकस्मात् उसकी दृष्टि इंदिरा पर जा पड़ी थी। उस समय इंदिरा पढ़ रही थी। उसकी परीक्षा के दिन थे। ढेर-की-ढेर पुस्तकें लिए हुए, गर्ल्स स्कूल की लकदक लॉरी पर बैठने को आतुर, मकान की सीढ़ियों पर से उतरती हुई इंदिरा पर जैसे ही उसकी दृष्टि गई, उसके जलजात-विनिंदक अंग-अंग की कमनीयता, उसके वेश-विन्यास के अभिराम रूप में, उसे ऐसी शोभन प्रतीत हुई कि वह एक प्रकार की आशंका से आतंकित हो उठा। वह सोचने लगा, कहीं इसे कुछ हो न जाय।

अपने उस अनिष्ट-चिंतक क्षण को उसने आंतरिक घृणा से मसल डाला। अपरूप चेष्टाओं से उसने अपने मन की उस अमांगलिक आशंका को भरसक निर्मूल कर दिया। उसकी

मंगल-कामना से उसने मन-ही-मन भगवान् से प्रार्थना की कि वह उसे अक्षय सुख-सौभाग्य प्रदान करे।

विवाह के बाद जब ससुराल में उसे आने-जाने का कुछ अधिक अवसर मिला, तो इंदिरा को वह गूँगी समझने लगा। गूँगी ! हाँ गूँगी ; किंतु इस अर्थ में नहीं कि उसका कंठ ही न फूटा हो। न ; ऐसी बात नहीं है। वरन् इस अर्थ में कि वह किसी से बोलना जानती ही न था। या कुछ ऐसी बात थी कि उसकी वाग्धारा उसके हृदय में ही अंतर्हित रहती थी। जो भी हो, किंतु यह तो स्पष्ट प्रतीत होता था कि उसका कथोपकथन मौन-संधित-सा हो गया है।

एक बार उसने अपनी सास से भी इसकी शिकायत की थी। उसने कहा था—"यह तो निरी गूँगी लड़की है अम्मा ! बोलना तो जैसे जानती ही नहीं। यह पढ़ती कैसे होगी !"

उसकी इस बात को सुनकर उनका प्रशांत मुख ईषत् हास्य से कुछ उज्ज्वल हो उठा। हासमुखी वाणी में उन्होंने कहा—"ऐसी बात नहीं है बबुआ ! गंभीर तो वह है ही, पर क्या किसी से बोलती नहीं ? हाँ, तुमसे न बोलती होगी। बड़ी शरमीली जो है।"

अनंत ने कहा—"हाँ, शरमीली तो बहुत है, पर ऐसी भी क्या शर्म !"

"क्या किया जाय ?" वह बोलीं—"अपना-अपना स्वभाव ठहरा।"

उसका समाधान हो गया।

× × × ×

उसके बाद।

एक दिन फिर जब वह वहाँ पहुँचा, इंदिरा अपने को अपने

अनन्त ने इंदिरा से कहा—अरे, तू तो बोलना भी जानती है !

आपमें ही समेटती हुई-सी आई। दोनों हाथ जोड़कर उसने अनंत से नमस्ते किया। फिर वह कुछ झिझकी, कुछ शरमाई। उसका ईषत् हास्य भी, कुछ ओट से, झलका; ऐसा भी प्रतीत हुआ कि वह कुछ कहना चाहती है।

किंतु उसी क्षण अनंत ने कह दिया—"अरे, तू तो बोलना भी जानती है!"

इंदिरा खिल-खिल करने लगी।

उसका वह खिल-खिल। वह देखने को क्षणिक था, पर ज्यों-ज्यों दिन बीतते गए, वह उसके मानस पर चिरस्थायी होता गया। वह उत्तरोत्तर अनुभव करने लगा—नारी का खिल-खिल ही तो मानो विश्व का अखिल है। इसके सिवा इस विश्व में है क्या? सुमन हँसते हैं, क्षीर-फेन सी शुभ्र हिलोर हँसती है। यह हास विश्व-प्रकृति का होता है निर्वाक्, निर्द्वंद्व। किंतु नारी का खिल-खिल तो मानवात्मा का आलोक है, जैसे उसी में मानवदृष्टि की चरम सार्थकता है, मानो अपवर्ग का यही एक लक्षण, क्षण-भर के लिये, इस भूतल पर झलक उठता हो।

हाँ, तो उस क्षण अनंत को बोध हुआ, कुछ दिन पूर्व उसने जो इंदिरा देखी थी, वह इंदिरा यह नहीं है। वह शब्द-हीन वर्ग की थी, यह हास मुखरित वर्ग की है!

इसके बाद और भी जो कुछ सोच सकता, अनंत सोचता ही रहता; किंतु उसी क्षण, उस खिल-खिल के बाद ही, इंदिरा ने कह दिया—"आप भी ख़ूब हैं!"

× × ×

अकस्मात् एक दिन गृहिणी ने इंदिरा का एक पत्र अनंत के समक्ष रख दिया। अनंत ने बहुत टाला। कहा—"गड़बड़ मत करो। देखो, कितना काम फैला हुआ है, और तुम आई हो उसका

पत्र दिखाने ! मुझे इस समय उसे देखने की ज़रा भी फ़ुरसत नहीं है।"

पर वह मानी नहीं। बोली—"तुम्हें मेरी क़सम है, इसे तुरंत अभी देख लो। कितना मार्मिक पत्र है !

अनंत ने उसे इधर-उधर देखा, और फिर पढ़ने को एक पुस्तक के बीच में रख दिया। कह दिया—"हाँ, अच्छा पत्र है। वह अब पत्र अच्छा लिखने लगी है।"

वह फिर अपने काम में लग गया।

"किंतु यह क्या !" ज्वलंत आवेश में गृहिणी कहने लगी—"तुममें मनुष्यता नाम की जिस विकसित भावना को पाकर मैं कभी गौरवान्वित हुई थी, देखती हूँ, अब तुममें उसका लोप-सा हो रहा है। नहीं तो इसी पत्र को पढ़ते-पढ़ते तुम पागल हो जाते !......लाओ, उसे लौटा दो।"

अनंत अवाक् ही बना रहा। वह कुछ कह न सका। इसके पश्चात् वह पत्र फिर उसके देखने में नहीं आया।

× × ×

दिन के तीन बजे हैं। अनंत ससुराल आया हुआ है।

दूसरे तल्ले के पिछले कमरे की ओर अनंत जा रहा है। उसे अपनी गृहिणी से कुछ बातें करनी हैं। इधर अनेक मास से वह यहीं है। अनंत उसे लेने आया है।

गृहिणी जब कभी यहाँ आती है, इसी कमरे में ठहरती है। वह यहीं सोती है। अनंत उसी कमरे के द्वार पर खड़ा है। उसने देख लिया है कि रानी सो रही है। उसकी दुलाई से ही इस बात को सोलह आने सही मानने के लिये वह विवश है। इसीलिये वह निश्चितता के साथ, स्थिर, अचंचल गति से भीतर चला गया।

अनंत पलँग के निकट अभी पहुँच ही रहा था कि उसपर

लेटी हुई नारी ने अँगड़ाई ली। फिर इधर-उधर ढुलकते हुए उसने उठने की चेष्टा में दुलाई को उलट दिया, और इधर-उधर जो देखा, तो वह एकदम से अचकचा उठी। झट से अपने को सँभालती हुई बोली—"अरे! आप हैं जीजाजी।" और उठकर खड़ी हो गई। साथ ही कहती गई—"रात को ठीक तरह से नींद नहीं आई थी। यहाँ आकर एक पुस्तक पढ़ते-पढ़ते सो गई......, लेकिन आप आये ख़ूब!—बिलकुल स्वप्न से! किंतु आये कितनी देर हुई?"

गृहिणी के बदले इंदिरा को पाकर अनंत नितांत निष्प्रभ हो उठा था, पर इंदिरा के इस सरल, स्निग्ध कंठ से फूटी हुई उसकी भोली, मीठी और सलोनी बातें सुनकर अनंत फिर प्रकृतिस्थ हो गया। उसने कहा—"अभी-अभी आया हूँ इंदिरा! लेकिन तुम दुर्बल बहुत होती जाती हो। तुम्हें हो क्या गया है? ऐसा भी क्या पढ़ना! जानती हो, मैं जीवन ही को सबसे अधिक सत्य मानता हूँ। इस एकमात्र सत्य के समक्ष सभी कुछ मिथ्या है। संसार इसी जीवन के लिये बना है।"

अंतर्हित-सी होकर इंदिरा ने कहा—"लेकिन मैं तो वैसा कुछ पढ़ती भी नहीं हूँ। कॉलेज छूट ही गया है। फिर भी तबियत ठीक नहीं रहती। कभी-कभी खाँसी बहुत आने लगती है।"

"क्या कहा!" जैसे अगाध विस्मय में डूबकर अनंत ने पूछा—"खाँसी बहुत आती है?"

वह बोली—"हाँ, लेकिन इसमें चिंता की क्या बात है?"

अनंत ने कहा—"न, खाँसी तुम्हें न आने दी जायगी। मैं ख़ुद तुम्हारी चिकित्सा कराऊँगा। ऐसा कैसे हो सकता है कि खाँसी तुम्हें आने दी जाय!"

उसके इतना कहते ही इंदिरा का मुख म्लान हो गया।

अनंत उसे देखता रह गया।......क्षण भर ही में इंदिरा की आँखें भर आईं।

"अरे, यह बात क्या है इंदिरा! तुम रोती हो! क्यों रोती हो भला? क्या तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट है?"

अनंत दूसरे को तो समझाना जानता है, पर अपने को नहीं समझा सकता। नहीं तो उसका कंठ भी क्यों भर आया है!

टप्-टप्-टप्! इंदिरा की आँखों से बराबर आँसू टपकने लगे।

अनंत ने अपने रूमाल से उसके आँसू पोंछे। उसके सिर पर हाथ फेरते हुए उसने कहा—"तुम पागल हो गई हो इंदिरा? देखो, मेरी ओर देखो। यह संसार है, इसी तरह चलता है। इसका अणु-अणु किसी-न-किसी प्रकार के बंधन से बँधा है। और अधिक मैं तुम्हें क्या बतलाऊँ।..............मैं तुम्हें बतला ही क्या सकता हूँ इंदिरा!"

अनंत की आँखें भी साश्रु हो उठीं। अंतिम शब्द कहते-कहते उसका कंठ अस्फुट हो गया।

× × ×

वही उस दिनवाला पत्र है यह, जिसे अनंत अभी देख रहा था। इसी पत्र को वह गृहिणी के उतना आग्रह करने पर भी पढ़ नहीं सका था। आज ही अभी पढ़ पाया है उसने।

एकाएक अनंत की आँखों में आँसू छलक आये हैं।

टप्-टप-टप्!

ये अश्रु उसी काग़ज़ के टुकड़े पर टपक पड़े। तब उसके निखिल सुवर्ण विवर्ण होने लगे।

अनंत के उत्फुल्ल नयन कैसे उन्मन हो गये। उसका वह सुमन-शोभन मुख कैसा अपरूप हो उठा!

लो, काग़ज़ के इस टुकड़े ने मौन रहकर भी अपने हृदय

के कपाट खोल ही दिये। अतीत की सारी बातें उसने बतला ही दीं।

अनंत फूट-फूटकर रोने लगा।

ए काग़ज के टुकड़े, भाई मेरे! अनंत को खूब रुला चुका। अब ज़रा उसे समझा तो दे कि वह और अधिक न रोये। रोने से होता क्या है? अदृष्ट के किस खेल को यह रुदन रोकने में समर्थ हुआ है? नियति की किस वृत्ति को इस रुदन के द्वारा समवेदना ने स्पर्श कर पाया है? काल के किस दृष्टि-विक्षेप को, क्षण भर के लिये भी, इन अश्रु विगलित उच्छ्वासों ने, ध्यान-भग्न कर पाया है?

× × ×

अनंत के चक्षु युग्म की आर्द्र उपत्यकाएँ अब सूखी पड़ी हैं। काग़ज़ के टुकड़े के सुधा-सिंचित वे शब्द, वे चिर-जाग्रत उज्ज्वल वर्ण, अपने अंतःस्थित भावगुंजन को लेकर फिर अंतरिक्ष में लीन हो गये हैं।

और काग़ज़ का टुकड़ा क्षत-विक्षत दशा में भूमि-शयन कर रहा है।

विद्रोही

रमेश को मैं कई वर्ष से जानता था, तो भी यह निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि उसे पूर्णतया जान सका था। वह बोलता बहुत कम था, लेकिन जब बोलता, तब घंटों बकता रहता। बातें करते-करते उसकी नसें तन जातीं, मुँह लाल हो जाता और होंठ फड़कने लगते। यदि कभी किसी विषय पर किसी व्यक्ति से विवाद छिड़ जाता, तो या तो वह उसे पराजित करके छोड़ता, या फिर उससे लड़ाई कर लेता। और एकबार लड़ जाने पर फिर से उसकी मित्रता का संयोग होना कठिन ही नहीं, असंभव हो जाता था। ऐसा वह नटखट था।

मैंने उसे कभी रोते नहीं देखा, लेकिन यह बात नहीं है कि

वह कभी रोया नहीं, या वह रोना जानता ही न था। मैं उसे एक असामान्य व्यक्ति मानता था। मेरे हृदय में उसके लिए आदर और श्रद्धा का स्थान था। यद्यपि अनेक बार वह मुझसे भी लड़ चुका था, पर उसकी साहसी प्रकृति का मैं क़ायल था। कभी-कभी वह अपने जीवन की घटनाएँ बड़े चाव से सुनाया करता। जब कभी मैं ऐसी बातें सुनना चाहता, तब उसकी प्रशंसा ऐसी लापरवाही दिखलाते हुए करने लगता कि उसे मेरी भावना की निष्कपटता का विश्वास हो जाता था। वह समझने लगता कि यह बात इसके मुख से बिलकुल स्वाभाविक रूप से निकल रही है और तब वह खुल पड़ता। फिर तो वह निर्झर की भाँति मुखरित हो उठता। अपने जीवन की भली-बुरी, सभी प्रकार की बातें बतलाने में उस समय वह ज़रा भी सङ्कोच न करता। उल्लास से उसका रोम-रोम पुलकित हो जाता।

एक दिन की बात है, वह बड़ी उमङ्ग में था। मैंने कहदिया—'दोस्त, इस समय तो तुम मुझे बहुत सुन्दर दीख पड़ते हो!'

मेरी इस बात को सुनकर उसकी वह प्रसन्नता न जाने कहाँ चली गई। उसकी आँखों में अश्रुमुक्ता छलक आये। गम्भीर होकर उसने कहा—"यही बात एक दिन और भी किसी ने मुझसे कही थी।"

मैंने पूछा—"किसने रमेश?"

"कोई था। उसे तुम नहीं जानते।" उसने बात टालते हुए उत्तर दिया।

"नहीं जानते, तो जान तो सकते हैं।"

"जान कर करोगे क्या?" उसने अन्यमनस्कता से कहा।

"तो फिर तुमको यही बतलाने की ज़रूरत क्या थी कि यही बात किसी और ने भी कही थी?"

"ज़रूरत नहीं थी, यह मैं स्वीकार करता हूँ, परन्तु फिर भी वह बात मेरे मुँह से निकल ही गई।"

"मैं पूछता हूँ, क्यों निकल गई आख़िर ?"

"यह बतलाना बड़ा कठिन है। तबियत नहीं मानी इसीलिये अकस्मात् फूट निकली और फूट इसलिये निकली कि वह भीतर पड़ी हुई थी। न तुम ऐसी बात कहते, जो मेरे हृदय के कोमलतम भाग को छू जाती, और न इस प्रकार की बात मेरे मुँह से निकलती।"

"तो जैसे यह इतनी-सी बात निकल गई, वैसे ही और भी सब क्यों नहीं निकलती ?"

"तुम तो फिर पीछे पड़ जाते हो।"

"और तुम भाग खड़े होते हो।"

"भागता कहाँ हूँ।"

"तो फिर बतलाते क्यों नहीं ? तुमसे कभी कोई व्यक्ति कुछ आशा न करे, तुम यही चाहते हो। लेकिन ज़रा सोच देखो, तुम्हारा यह भाव कितना रूखा और कठोर है !"

अब उसने कहा—"सुनो, लेकिन याद रक्खो, कहीं किसी से कह न बैठना, कम-से-कम तब तक, जब तक मैं मर न जाऊँ।'

अन्तिम वाक्य कहते-कहते गम्भीरता और करुणा उसके मुख पर काली छाया की भाँति छा गई।

"शनिवार का दिन था, सायंकाल के साढ़े पाँच बजने का समय। अन्धकार थोड़ा-थोड़ा घिरने लगा था। मैं साइकिल से तेज़ी के साथ अपने हास्पिटल को जा रहा था। तेज़ी से जाने का कारण यह था कि निश्चित समय से कुछ देर हो गई थी। सड़क पर छिड़काव हो गया था। भूमि की सोंधी-सोंधी ख़ुशबू बड़ी प्यारी लग रही थी। नये ताज़े गुलाब-से खिले, फूल-से

कोमल और खुशनुमा 'बेबीज़' को पैराम्बुलेटरों में लिटाये हुए अधगोरी धाएँ मंथर गति से विचर रही थीं। इसी समय मैं देखता क्या हूँ, एक कार मेरे दायें ओर से निकल गई। मैंने झट-से साइकिल बढ़ाई। दो मिनट में ही मैं हास्पिटल जा पहुँचा। पहुँचने पर देखा, अरे! यह तो मिस बनर्जी हैं।

अभिभावकों ने बतलाया—"हम लोग बनारस जा रहे थे। रास्ते में एक्सीडेंट हो गया। एक जगह मोटर खड्ड में जाकर उलट गई।"

उसकी स्थिति विशेष चिन्ता-जनक थी। उसकी रीढ़ पर चोट आई थी। मैंने बड़े मनोयोग से उसे सँभाला। तीन दिन तक तो वह अचेत रही। चौथे दिन जब उसने आँखें खोलीं, तो मुझे बुलाया गया। उसकी माता और भाई भी उसके निकट उस समय उपस्थित थे। मैंने जब उसे चेतन अवस्था में पाया, तो मेरा चित्त प्रसन्न हो गया। मैंने उसके भाई मिस्टर प्रफुल्ललोचन बनर्जी से कह दिया—"अब आप लोग निश्चिन्त हो जायँ। ये निस्सन्देह अच्छी हो जायेंगी।'

प्रफुल्ल बाबू बोले—"डाक्टर साहब! हम अपने वंश में केवल दो भाई-बहन हैं। पिताजी ने देह-त्याग करते समय मुझसे कहा था—लतिका को अब मैं तुम्हें ही सौंपता हूँ। घर में जो कुछ भी है, वह तुम दोनों का ही है। मुझे विश्वास है, तुम उसके साथ एक भाई का-सा नहीं, वरन् मेरे जैसा ही व्यवहार करोगे। सो डाक्टर साहब! जो कुछ भी उचित पुरस्कार आप माँगेंगे, मैं आपको सहर्ष दूँगा, यदि आप इसकी जान बचा लें।'

मैंने कहा—"यह आप क्या कहते हैं? आप मुझे जानते नहीं, मैं रुपये का उतना ख़्याल नहीं करता, जितना अपनी सफलता का। यदि ईश्वर ही उसे उठा ले जायेगा, तब तो

मजबूरी है, अन्यथा मुझे विश्वास है कि लतिका का जीवन अभी आगे चलेगा—वह अच्छी हो जायेगी।'

× × ×

लतिका अच्छी हो रही थी, ऐसा मुझे अनुभव होने लगा था। परन्तु अब वह मेरे हास्पिटल से चली गई थी। प्राइवेटली मैं उसे देख आता था। प्रफुल्ल बाबू हास्पिटल का टाइम समाप्त होने पर मेरे लिये अपनी कार भेज देते थे। मैं दिन में दो-तीन बार उसे देखने जाया करता था।

एक दिन ड्रेसिंग करने के बाद जब मैं चलने लगा, तो लतिका बोली—"बैठिए डाक्टर साहब!" और मेरी ओर देखती ही रह गई। यद्यपि उसकी यह चेष्टा मेरे लिए नयी थी। फिर भी मैं बैठ गया। उस समय उसके कमरे में और कोई नहीं था।

उसने कहा—"पुनर्जन्म पर आप विश्वास करते हैं?"

मैंने कहा—"हां"

परन्तु उसने उदास होकर कहा—"लेकिन मुझे विश्वास नहीं होता। इधर मैं अकसर सोचा करती हूँ, अगर मैं पुनर्जन्म मानती होती, तो मेरा यह जीवन कितने सुख-सन्तोष के साथ कट जाता?"

मैंने कहा—"तुम्हारे जीवन में भी कोई पीड़ा, या कोई असन्तोष प्रवेश पा गया है, यह जानकर मुझे दुःख हुआ।"

"लेकिन डाक्टर साहब! मुझे आपसे यह बात कहते हुए जरा भी दुःख नहीं हुआ। अच्छा, जाने दीजिये इस बात को। मैं एक और बात कहती हूँ। परन्तु....परन्तु....।"

इसके पश्चात् वह जरा-सी रुक गई, और मैंने उसी क्षण पूछ दिया—"हां,....परन्तु क्या?"

"यद्यपि वह एक सीधी-सी बात है; परन्तु सोचती हूँ, उसे आपसे कैसे कहूँ?" वह बोली।

मैं ऐसे अवसर पर चुप लगा जाना अधिक पसंद करता हूँ और ऐसा ही मैंने किया भी।

उसने अपने भीतर साहस संचित करके कहा—"डाक्टर साहब! आपने मनोविज्ञान पढ़ा ही होगा।"

"हाँ, पढ़ा है। तो फिर?"

"उसी की बात है। मैं सोचती हूँ, यह मन भी एक अजीब चिड़िया है। वाह डाक्टर साहब! आप तो मुसकराते हैं! मन अगर चिड़िया नहीं है, तो वह इस सुनील अम्बर में ऐसा उड़ता क्यों रहता है? अच्छा, मैं आपसे पूछती हूँ, आपको इतने मृदुल स्वभाव का, ऐसा सुन्दर और मधुर भगवान् ने बनाया कैसे!"

मैंने बिगड़कर कहा—"आप इस तरह की बातें करेंगी, तो मैं यहाँ से उठ जाऊँगा।"

और इतना कहकर मैं सचमुच उठ खड़ा हुआ।

वह बोली—"अरे, मेरी इन बातों से आप तो नाराज़ हुए जाते हैं। अच्छा, अच्छा, ज़रा देर और बैठिये डाक्टर साहब! आज मेरी तबियत ठीक नहीं है। मैं चाहती हूँ, मुझे कुछ अच्छा लगे, लेकिन मुझे कुछ भी नहीं सुहाता। बस, यही इतनी-सी बात है।'

"अच्छा, मैं एक नर्स को आपके पास भेज दूँगा। वह आपका मनोरञ्जन करने को शीघ्र आ जायगी, परन्तु आपने अभी कहा, तबियत ठीक नहीं है। ज़रा देखूँ तो, कहीं टेंपरेचर तो नहीं हो आया।" मैंने जो उसकी नाड़ी देखी, तो देखता क्या हूँ कि सचमुच उसे ज्वर हो आया है।

× × ×

मेरा जीवन बड़ा विचित्र रहा है, बिहारी बाबू तुम जानते नहीं। जीवन में मैंने अपनी ओर से किसी को कभी

नहीं चाहा, किसी की ओर कभी आँख उठाकर भी उस दृष्टि से नहीं देखा, जिस दृष्टि से सुन्दर वस्तुओं को देखकर उन्हें अपनाने का भाव हृदय में उमड़ पड़ता है। मैं इस प्रवृत्ति को मनुष्यता का एक रोग मानता आया हूँ। मेरी नवगृहिणी का स्वर्गवास उस समय हुआ, जब उसकी अवस्था सोलह वर्ष की और मेरी बीस वर्ष की थी ; तभी मैंने यह पूर्ण रूप से निश्चय कर लिया था कि अब इस जीवन में दूसरा विवाह नहीं करूँगा—नहीं करूँगा। और तुम देखते ही हो, मैं अब तक अविवाहित हूँ परन्तु उस क्षण मुझे न जाने क्या हो गया! लतिका की उस दिन की बातों ने मुझे एकदम से बदल दिया। मेरी नस-नस में अब वासना की तीव्र मादकता समा गयी। मेरे जीवन में एक आँधी-सी आ गयी।

कई दिन तक मैं सोचता रहा—"भगवान्! तेरी यह कैसी लीला है! मैं अब क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किसी का मधुर हास, किसी की मृदुल कंठ-लहरी, किसी का कमनीय कलेवर, किसी की चारु चितवन, किसी का आलुलायित केश-पाश, किसी की प्राणप्रद यौवन-हिलोर यदि अतिशय प्रिय लग ही जाय, तो? कहो, हे पावनमय! कहो, बतलाओ, व्यवस्था दो, उस दशा में यह कमजोरियों का पुतला मनुष्य, यह पिपासाकुल मानवात्मा क्या करे?"

किसी ने कहा—"किंतु यह तो क्षण-भंगुर है ; यह तो आज है, कल नहीं। जो अक्षय है, अमृत है, अनन्त है, उसे ही क्यों नहीं खोजता भोले बालक!"

× × ×

इस अन्तर्ध्वनि ने मुझे जगा दिया। मिस बनर्जी को नीरोग कर देने के पश्चात् मैंने वैराग्य धारण कर लिया।

सोचता हूँ, मेरा वह दो वर्ष का कैसा पवित्र जीवन था !

जीवन तो पवित्र था, किंतु शांति तब भी नहीं थी। अनेक तीर्थों में घूमा फिरा, अनेक देवालयों के निकट धूनी रमाई, अनेक सरिताओं के निकट कुटीर बना-बनाकर रहा, तो भी चरम संतोष न उपलब्ध हुआ। ज्ञान के बिना गति कहाँ रक्खी है? उसी वैराग्य जीवन में एक कौतुक देखा। देखा, एक भिखारी है—अत्यंत कृश गात। चिथड़े उसके बदन पर हैं, पीब उसके घावों पर यत्र-तत्र जमा हुआ है, जिनमें शत-शत कीट कुलबुला रहे हैं। दिन भर में वह जो कुछ पैसे एकत्रित कर पाता है, उन्हें समेटकर वह सायङ्काल होते ही कहीं चल देता है। कई दिनों तक बराबर जब मैंने उसे सायङ्काल गंगा तट से बस्ती की ओर जाते देखा, तो मेरे मन में आया, इसमें कुछ-न-कुछ रहस्य है। एक भोली जिज्ञासा मेरे मन में पली रही।

शीत के दिन आये, तो एक दिन वह मेरे सामने पड़ गया। बोल उठा—"महात्मन्, आज तुम्हीं कुछ दे डालो इस कोढ़ी को।"

मैंने कहा—"मेरे पास देने को क्या रक्खा है! मैं तो त्यागी हूँ।"

उग्र आश्चर्य से उसकी आँखें अकुला उठीं। बोला—"त्यागी! हूँ-हूँ! बड़ा कठिन है त्यागी होना महात्मन्!"

मैंने कहा—"अब भी कोई कसर है क्या? अपनी प्यारी-से-प्यारी दुनियाँ को ठुकरा चुका हूँ! और तू अब भी मुझे त्यागी नहीं समझता, मूर्ख!"

"मूर्ख तो हूँ मैं जरूर, लेकिन जो एक बात पूछूँ, तो बुरा तो न मानोगे?" आँखों में आँखें गड़ाकर उसने कहा।

"पूछो।"

"सब कुछ तो त्याग दिया, परन्तु शारीरिक सुख का मोह अभी नहीं छूट सका। सत्य पर आडम्बर क्यों डाल रखा है भगवन्! कहते हो, मेरे पास देने को है ही क्या? मैं पूछता हूँ, क्या सचमुच तुम्हारे पास मेरे देने को कुछ भी नहीं है?"

"अरे! यह है कौन? मैं तो इसे निरा कीड़ा समझता था। यह बातें कैसी कह रहा है मुझसे!" सोचते हुए मैं इकटक उसे देखने लगा। फिर उचटे हुए मन से मैंने कह दिया—

"क्या है मेरे पास? पैसा मैं हाथ से छूता तक नहीं!"

"अरे पैसा नहीं है, यह तो मैं जानता हूँ। पर ये तीन-तीन कंबल तो रक्खे हो! इन्हीं में से एक क्यों नहीं दे देते!" उसने झट से कह दिया। मैं अवाक् हो गया। तब तक जीवन में ऐसा पराजित कभी नहीं हुआ था। अब उसे कंबल देकर भी जी को संतोष नहीं मिला। वह कुछ अधिक पढ़ा-लिखा नहीं है, तो भी ज्ञान की ज्योति तो उसमें जगमगा ही रही है। वह कैसा कुरूप है, कैसा दुर्गंधपूर्ण!—देखने से आँखें तिलमिला उठती हैं। अधिक देर तक उसके निकट ठहरा नहीं जाता। यह सब कुछ था फिर भी अब मैं प्रायः प्रतिदिन उसे एक बार देख आता, इसके सिवा कुछ-न-कुछ उसे दे भी आता।

परन्तु वह कंबल अधिक दिन तक उसके पास रह नहीं सका। पता नहीं, उसने उसका क्या किया!

एक दिन मैंने जो उसके निकट जाकर उससे उसके सम्बन्ध में पूछा, तो उसने मुसकराते हुए कहा—"अब यह जानकर क्या कीजियेगा; महात्मन्!"

मैंने कहा—"तो भी, तू उस बात को मुझसे छिपाता क्यों है?"

उसने कहा—"अच्छा यह बात है! आप समझते हैं, मैं उसे आप से छिपाता हूँ! हँ-हँ! उस बात को दुनियाँ से भले ही

छिपाऊँ, पर आपसे भला क्यों छिपाने लगा !....हाँ, असल बात यह है कि एक दिन जब मुझे पैसे नहीं मिले, तो फिर उसी को बेचकर मैंने अपना नशा पूरा किया !"

"अरे ! तू नशा भी करता है पापी !" मैंने भाव बदलकर कहा। पर उसने दृढ़ होकर—'हाँ, मैं ताड़ी पीता हूँ। पीता हूँ अपने आपको भुलाने के लिये। पीता हूँ एक तृप्ति के लिये। तृप्ति से ही तो विरक्त होती है और इसी लिये मैं तृप्ति में डूबना चाहता हूँ। तब तो आगे बढ़ूँगा। आप तो महात्मा हैं महाराज ! मैं आपको क्या समझाऊँ।"

मैं सोचने लगा—"क्या इसकी बात में कुछ तत्व नहीं है मुझ में भी तृप्ति कहाँ है ?"

मेरे नेत्र खुल गये। हाय ! अब तक मैं जो साधना में लिप्त नहीं हो पाया, उसका एकमात्र कारण यही है। अब फिर एक बार मेरा हृदय भूकंप-सा दोलायमान हो उठा। एक ज्वालामुखी-सा मुझमें फूट निकला। उस जीवन से मुक्ति लेकर एक राज्य में मैनेजर का पद मैंने स्वीकार कर लिया। वहाँ मैं इच्छित स्वच्छंदता का अनुभव करने लगा। उस जीवन में मैंने अनेक प्रकार के अनुभव किये। मैंने यह अच्छी तरह समझ लिया कि यह जगत् पैसे का है। छल से, बल से, पैसा जोड़कर रखने वाला ही इस संसार में सब से अधिक सफल और विजयी पुरुष माना जाता है। किंतु मैंने जीवन में जब कभी परिवर्तन किये, सदा ज्ञानार्जन को ही अपने सम्मुख रक्खा। मैंने अनुभव किया कि जीवन में अमृत भी है और विष भी। जीवन की सार्थकता मैंने सदा विष को जानकर पान करने और फिर उसे त्याग और तपश्चर्या के बल से अमृत-रूप देने में ही अनुभव की। किंतु....।

× × ×

एक दिन की बात है, मैं कानपुर में मेस्कर-घाट की ओर घूम रहा था। आकाश मेघाच्छन्न था, नन्हीं-नन्हीं बूँदें गिर रही थीं। अंधकार उत्तरोत्तर सघन होता जाता था। पास की एक सुनसान सड़क पर मैं अकेला धीरे-धीरे विचर रहा था। ऐसे समय में मैंने देखा, कुछ दूर सड़क पर पहले तो एक कार बहुत तेज़ी के के साथ आई, फिर सघन वृक्षों की ओट में पहुँचकर एकाएक रुक गई। ठीक उसी समय मुझे एक बार एक चीत्कार-सा सुनाई पड़ा। परन्तु वह स्वर भी केवल एक बार उठा और बीच में ही रुक गया। मैं झपटकर जो आगे बढ़ा, तो देखता क्या हूँ कि तीन गुंडे एक कार पर से किसी को चेतना-हीन अवस्था में उठाकर दूसरी कार में ले जाने की चेष्टा में हैं।

मेरे पास उस समय छः फ़ायर का रिवाल्वर था। मैंने दो फ़ायर आकाश में उसी क्षण कर दिये। उस सन्नाटे में 'बैंग-बैंग' का वह भीषण निर्घोष सुदूरवर्ती गगन मंडल में छाकर रह गया। फलतः वे नराधम गुंडे, जिनमें ड्राइवर भी सम्मिलित रहा होगा, कुछ फ़ासले पर तैयार खड़ी दूसरी कार पर चढ़कर भाग खड़े हुये। मैंने देखा, काले कंबल से उस व्यक्ति को लपेटकर ऊपर से बाँध दिया गया है। बन्धन झट से खोलने पर मालूम हुआ, वह कोई स्त्री है। स्वेद-बिन्दु उसके अकलङ्क मयंक-मुख पर नन्हें-नन्हें मोतियों से चमक उठे हैं।

क्षण-भर मैं स्थिर-स्तम्भित रहा।

इसके बाद 'किन्तु' कहकर वह थोड़ी देर रुक गया। उसका मुख एकाएक अग्नि की भाँति ज्वलंत हो उठा। उसकी आँखें फैल गईं, भृकुटी तन गई। उसके मस्तक में तीन रेखाएँ बन गईं। और तब वह कहने लगा—

मैं अपने ऊपर किसी शक्ति का अनुभव नहीं करता। मैं उत्तर
थ क हूँ।

अजस्र चंचल कलेवर एकाएक निष्प्रभ, निश्चेष्ट हो गया! बड़ी देर तक मैं उसके मुख को ध्यान से देखता रहा। आह! अब मैं आपको क्या बतलाऊँ कि वह मुख किसका था! बस, तब से संसार मेरे लिए महाशून्य हो गया है। मैं अपने आपको अकेला देख रहा हूँ। मैं अपने ऊपर किसी शक्ति का अनुभव नहीं करता। मैं उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्त हूँ। मैं जब जो चाहता हूँ, वही करता हूँ। यही मेरी गति है, यही मेरा ज्ञान। मैं अमृत और विष को एक रूप में देखता हूँ। मुझसे कोई किसी बात की क्यों आशा करे, जब मैं किसी से कोई आशा नहीं करता!"

चित्रकार

"आइये। इधर निकल आइये, इस सोफ़े पर।"

हेमचन्द्र कह रहा था। उसकी चित्रशाला के द्वार पर कुमार दिलीपसिंह सपत्नीक खड़े हुए थे। चित्रकार का अनुरोध पाकर दोनों कुछ आगे बढ़ गये। प्रतिभा कभी उसे देखती, कभी उसके चित्रों को। विस्मय से वह अवाक् हो रही थी। रह-रहकर वह कुछ सोचने लगती, कभी अपने आप को देखती, कभी सुदूर छूटे हुए कल को, कभी-कभी वह चित्रकार के लिये सोचने लगती—जीवन के प्रति ऐसी निर्ममता इसमें आई कैसे !

उधर दिलीप की दृष्टि एक चित्र पर अटकी हुई थी। चित्रकार उनके पास जा पहुँचा। फिर प्रतिभा की ओर देखते

हुए बोला—आप भी ज़रा-सा देख लें महारानी। इसे मैंने अभी कल ही फ़िनिश किया है।

सम्बोधन मात्र के लिये उसने रानी की ओर देखा था। जान पड़ता था, मानो देखते हुए भी वह उनकी ओर देखना नहीं चाहता।

रानी तब आगे बढ़कर दिलीप के पास जा खड़ी हुई। रह-रह कर वह चित्रकार की दाढ़ी देखने लगती थी।

हेम बोल उठा—देखा आपने ? सूप के आकार की यह एक नन्हीं-सी नाव है, जिसमें यह नव जात शिशु खेल रहा है, हँस रहा है। देखते हैं आप कितना प्रसन्न हैं ! माँ उसे छोड़ गई है। वह नदी में बहा जा रहा है—बहा जा रहा है। कहाँ जायगा, किस गति को प्राप्त होगा, नहीं जानता। आप देख ही रहे हैं, लहरें कैसी ऊँची-नीची हैं !

कुमार उसे देखकर उछल पड़े ! बोले—इम्मार्टल (अमर) !

किन्तु ज्योंही उनकी दृष्टि रानी की ओर गई, तो देखते क्या हैं—वे 'आह' शब्द-मात्र कहती हुई मूर्छित होकर वहीं गिरना ही चाहती हैं। तब तत्काल उन्होंने उसे अपने बाहुओं पर लेकर वहीं सोफ़े पर लिटा दिया।

× × ×

सारी कथा सुनकर डाक्टर मिश्रा ने कहा—आप चाहे जो कुछ कहें कुँवर साहब, हिस्टीरिया का सम्बन्ध मानसिक अस्वस्थता के साथ अटूट माना गया है। घटनाएँ कैसी घटी हैं, उनके या आप लोगों के जीवन में, मेरी अपेक्षा आप इसे अधिक जान सकते हैं। किन्तु रानी तब तक पूर्णतया नीरोग हो नहीं सकतीं, जब तक उनके मानस पर स्थायी रूप से पड़ा हुआ (कोई) आघात सदा के लिये दूर नहीं हो जाता। शरीर के साथ दवा और उपचार का जहाँ तक सम्बन्ध है, मैं करूँगा

सम्बोधन-मात्र के लिये उसने रानी की ओर देखा था। जान पड़ता था, मानो देखते हुए भी वह उनकी ओर देखना नहीं चाहता।

ही ; किन्तु सफलता मुझे इसमें तभी मिलेगी, जब आप उस कारण को ही दूर कर देंगे, जिसके द्वारा ये इस स्थिति को प्राप्त हुई हैं।

डाक्टर मिश्रा अपनी व्यवस्था देकर चले गये।

बस, तबसे दिलीप अनुचरों से भरे उस बँगले में, स्थिर होकर, यही सोच रहा है कि मैं अब करूँ क्या ? मुझे करना क्या चाहिए ?

दिलीप आदर्श पति है। जबसे प्रतिभा उसके यहाँ आई है, कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि उसने उसे किसी भी प्रकार कष्ट का अनुभव होने दिया हो। अगणित आवश्यकताओं से भरे इस जनाकीर्ण जगत् में, प्रतिभा के लिए, कभी कोई अभाव नहीं रहा है। हाँ, कभी-कभी एक पुत्र की कामना दिलीप ने अवश्य की है। किन्तु यह कामना भी उसीकी अधिक रही है। प्रतिभा को कभी उसने इसके लिये न तो निःश्वास लेते पाया, न आँसू बहाते। उसी ने जो कभी चर्चा छेड़ दी है, तो भले ही स्वीकारोक्ति में प्रतिभा ने कुछ कह दिया हो।

कई दिन बीत गये। डाक्टर मिश्रा नित्य आते हैं। कभी-कभी अनपेक्षित रूप से दुबारा भी आ जाते हैं। चिकित्सा उनकी चल रही है। फ़िट्स जब कभी आते हैं, तब थोड़े अन्तर से ज्वर को भी लिये आते हैं। कभी-कभी कई-कई दिन तक नहीं आते। ऐसा जान पड़ता है, तबियत अब बिलकुल अच्छी हो गई है। इसी भाँति पहले भी दो-दो चार-चार महीने चल गये हैं। किन्तु फिर जो कभी फ़िट्स आने लगे, तो दिन-भर में कई-कई बार आते रहते हैं। अवस्था पैंतिस की हो गई है। किन्तु शरीर की गठन और रूप-छटा में विशेष अन्तर अब तक आया नहीं है।

प्रतिभा उस दिन पलँग पर लेटी हुई रेडियो से एक कविता सुन रही थी—'बस, तरस गया यह मेरा मन।' निकट ही

दिलीप और उसके पास डाक्टर मिश्रा बैठे हुए थे। कविता का अन्तिम पद था—मैं बहा जा रहा मौन विवश—मैं लक्ष्यहीन, तुम अगम गगन।

डाक्टर ने पूछा—कैसी कविता रही, रानीजी ?

प्रतिभा कुछ गम्भीर होकर बोली—अच्छी तो रही। किन्तु कलाकार हेम के चित्र का वह भाव और भी सुन्दर है—और भी मर्मस्पर्शी।

तब डाक्टर ने मन-ही-मन तै किया—अब वह चित्र मुझे भी देखना पड़ेगा। तदनन्तर उन्होंने पूछा—क्या आप वह चित्र पुनः देखना पसन्द करेंगी ?

दिलीप कहने ही जा रहा था कि उसी चित्र ने तो यह अनर्थ किया है, डाक्टर साहब। आप यह कर क्या रहे हैं ? किन्तु तब तक डाक्टर ने प्रतिभा की ओर देखकर कहा—ज़रा-सा ठहर जायँ आप ! और तदनन्तर वे दिलीपसिंह से बोले—थोड़ी देर के लिये आप यहाँ से उठ जायँ कुँवर साहब और मुझे इस प्रस्ताव के लिये क्षमा करें।

दिलीप चला गया, तो डाक्टर ने अटैची केस से एक शीशी निकालकर उसकी एक खूराक रानी को पिला दी। फलतः बात-की-बात में उनके मुख पर सुर्खी दौड़ गई। तत्काल डाक्टर ने कहा—हाँ, अब बतलाइये।

प्रतिभा रूमाल से मुँह पोंछकर पहले कुछ गम्भीर हो गई। फिर बोली—पहले आप उनको बुला लीजिये, तब दूसरी बात करूँगी।

डाक्टर ने देखा, प्रतिभा की वाणी में कुछ तेज़ी आ गई है। बोले—इसके लिये आप मुझे क्षमा कर दें। मैं डाक्टर हूँ, ईश्वर का प्रतिनिधि। मुख्य रूप से जीवन देनेवाला तो वही है ;

किन्तु उसकी सत्ता को स्थिर और मूर्तिमान सिद्ध करने में थोड़ा-सा हाथ मेरा भी रहता है। कुछ बातें ऐसी भी हो सकती हैं, जिन्हें आप अपनी आत्म-प्रतिष्ठा के लिए, सम्भव है, स्वामी से भी छिपाना चाहें; किन्तु मैं उस स्थिति से परे हूँ। मैं केवल जीवन और उसकी दीर्घता, शान्ति, कल्याण और विकास का अधिष्ठाता हूँ। प्रत्येक रोगी मेरे सामने अभियुक्त के रूप में आता है। उसके साथ न्याय मैं तभी कर सकता हूँ, जब वह उन समस्त स्थितियों के मर्म को मेरे सामने स्पष्ट रूप से रख दे, जिनके कारण वह इस दशा को प्राप्त हुआ है।

डॉक्टर ने देखा, प्रतिभा और भी गम्भीर हो गयी है। भृकुटियाँ तन रही हैं, होंठ काँप रहे हैं।

और सचमुच उसी क्षण प्रतिभा बोली—मैं कुछ नहीं जानती। कोई भी बात ऐसी नहीं है, जिसे वे न जानते हों। मुझे कुछ कहना नहीं है। मैं उस चित्र को नहीं देखना चाहती। जीवन के प्रति मेरी कोई ममता नहीं है।

डॉक्टर उठकर खड़े हो गये। उन्होंने कहा—अच्छा तब, इस समय तो मैं आज्ञा चाहता हूँ। देखता हूँ, आपकी तबियत अच्छी नहीं है, आपको विश्राम की आवश्यकता है। अतः मेरी प्रार्थना है कि अब आप विश्राम करें।

डॉक्टर इतना कहकर चला गया।

× × ×

अब डॉक्टर कुमार दिलीपसिंह को लेकर चित्रकार हेम के यहाँ उपस्थित है। हेम आरामकुरसी पर बैठा हुआ सिगरेट पी रहा है। नीचे ह्विस्की और सोडा की बोतलें, शीशे के गिलास, तश्तरी और सिगरेट के खाली डब्बे तथा अधजली दियासलाइयाँ पड़ी हुई हैं। डॉक्टर और दिलीप के पहुँचते ही

हेम घंटी बजाता है और उसके शब्दों के साथ ही एक अनुचर आकर उपर्युक्त चीजें उठाकर फ़र्श ज्यों-का-त्यों, साफ़ कर देता है।

दिलीप के साथ एक नये व्यक्ति को देखकर हेम ने प्रश्न किया—आपका परिचय ?

दिलीप ने कहा—ये मेरे कौटुम्बिक डॉक्टर मिस्टर कान्तिचन्द्र मिश्र हैं। यद्यपि इस नगर में डॉक्टर मिश्रा के नाम से ही आप की प्रसिद्धि है। फिर डॉक्टर की ओर देखकर बोले—और हेम बाबू का परिचय मैं आपको दे ही चुका हूँ।

क्षण-भर के लिए उस कमरे में एक प्रकार की मूकता छाकर रह गयी। कुमार दिलीप ने ही अन्त में उसे भंग करते हुए कहा—विश्राम के समय आपको कष्ट देने आया हूँ, इसके लिए पहले ही आपसे क्षमा चाहता हूँ।

हेमचन्द्र ने कुछ अन्यमनस्क भाव से कहा—"ख़ैर! अपना मन्तव्य कहिये।" और वह ऐश-ट्रे में सिगरेट की राख गिराने लगा।

हेमचन्द्र की स्थिति, मुद्रा और रुखाई देखते हुए डाक्टर ने कहा—

आपको मालूम ही है, उस दिन आपके चित्रागार में एक चित्र देखते-देखते रानी प्रतिभा मूर्छित हो गयी थीं ?

हेम—हाँ, मालूम है।

डॉक्टर—आपको यह भी मालूम है कि तब से वे बहुत अस्वस्थ हैं।

"इस बात की जानकारी से कोई सम्बन्ध न रखने के कारण, सच पूछिये तो यह बात, मैं इस समय, आपसे ही सुन रहा हूँ। मुझे यह जानकर दुःख हुआ।" कहकर उसने सिगरेट-केस डॉक्टर के सामने कर दिया।

दिलीप उस समय हेम को बहुत ध्यान स देखने लगा।

और धन्यवाद देते हुए डॉक्टर ने कहा—किसी कलाकार के व्यक्तिगत जीवन में प्रवेश करना, मेरे जैसे साधारण व्यक्ति के लिए, न उचित है—न आवश्यक। केवल अपने कर्तव्य पालन में थोड़ी-सी सुविधा प्राप्त करने की इच्छा से मैं चित्र देखना चाहता हूँ।

"पर मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है" हेम ने कुछ चिन्ता के साथ उत्तर दिया—उसी दिन सायंकाल आकर एक महाशय उसे ख़रीद ले गये।

डॉक्टर को हेम के उत्तर से पहले तो कुछ निराशा हुई; किन्तु उसने पूछा—क्या आप उन्हें जानते हैं?

हेम—नहीं। चित्र बन जाने पर मेरा कर्तव्य पूरा हो जाता है। बिक जाना अथवा नष्ट हो जाना मेरे लिए बराबर है। पूर्ण होते ही एक बार उससे संतुष्ट हो लेने पर, उसके प्रति, किसी प्रकार की ममता रखना मुझे स्वीकार नहीं होता। यही कारण है कि अधिक समय कोई भी चित्र मेरे यहाँ रह नहीं सकता।

दिलीप और डॉक्टर दोनों हेम की बात सुनकर चकित हो उठे। किन्तु क्षण भर बाद डॉक्टर ने पूछा—अच्छा, आपको उनका आकार-प्रकार तो याद होगा।

हेम—मुझे केवल इतना याद है कि मैंने उनके हाथ उस चित्र को ११०) रुपये में बेचा था। मुख उनका गोल था कि लम्बा, वे चेस्टर पहने हुए थे कि शेरवानी, चूड़ीदार पायजामा उनकी टाँगों पर था, या पैंट—मुझे कुछ याद नहीं है। परिचित अपरिचित कुल मिलाकर दर्जनों व्यक्ति नित्य आते हैं। याद रखना भी चाहूँ, तो भी सफल हो नहीं सकता। आप ही यदि एक मास बाद आयें, तो मेरे लिए तत्काल यह सोच लेना कठिन हो

जायगा कि आप डॉक्टर साहब हैं। यह बात दूसरी है कि यह स्टेथसकोप मुझे आपका परिचय देने में सहायक हो जाय। किन्तु पेशे की दृष्टि से यह आपकी एक विशेषता है। आप सदा इस ढँग से रहने का प्रयत्न करते हैं कि आपको लोग डॉक्टर समझें। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए तो ऐसा सम्भव नहीं है।

तब डाक्टर ने कुछ गम्भीर होकर कहा—क्षमा कीजियेगा, एक औसत दर्जे के व्यक्ति में जितनी स्मरणशक्ति होती है, आप में उतनी भी नहीं है, यह बात मेरी समझ में नहीं आती। न तो आपको नित्य ही नवीन चित्रों के बनाने का अवसर मिलता है, न ऐसे व्यक्तियों के, आपके पास नित्य ही अधिक संख्या में आने की, मैं आशा कर सकता हूँ। हाँ, उस व्यक्ति का परिचय न देने में अगर आपका कोई विशेष मन्तव्य हो, तो बात दूसरी है।

इस बार हेमचन्द्र तुरन्त कोई उत्तर नहीं दे सका और डाक्टर उसकी मुद्रा को और भी अधिक ध्यान से देखने लगा। सम्भव था कि हेमचन्द्र उत्तर देने में और भी कुछ समय लेता, किन्तु उसी समय डाक्टर ने कहा—आपको मालूम होना चाहिये कि रानी प्रतिभा देवी को हिस्टीरिया के फ़िट्स आते हैं। इस रोग का सम्बन्ध मन से होता है। इसीलिए मैं उनके मन के उस स्तर की झलक चाहता हूँ, जिस पर आघात पहुँचाने में उस चित्र ने विशेष योग दिया है। आप तो कलाकार हैं। आपके समक्ष इस विषय में कुछ कहने का अधिकारी मैं अपने को नहीं मानता। तो भी इतना कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि कला का भी चरम लक्ष्य विश्व का कल्याण ही है।

हेमचन्द्र तनकर खड़ा हो गया। दोनों हाथ उसके पैंट के

जेबों में थे और सिगरेट उसके होठों के बीच में। क्षण-क्षण पर वह धुएँ के बादल उड़ा रहा था। डाक्टर की बात समाप्त होते ही उसने हँस दिया और कहा—विश्व-कल्याण का उपदेश देने के लिये स्थल आपने बहुत ही उपयुक्त चुना है।

डाक्टर भीतर से बहुत मर्माहत हो उठा। यहाँ तक कि अग्रिम दाँत उसके होठों पर गहराई के साथ आ गये। किन्तु उसने तत्काल अपने को सम्हाल लिया। अतिशय मृदुल होकर उसने उत्तर दिया—मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना मेरे लिए धृष्टता होगी।

इस बार सिगरेट का अवशिष्ट अंश ऐश-ट्रे में कुचलकर हेमचन्द्र ने दिलीप की ओर ध्यान से देखा। सम्भव था वह कुछ कहता भी, किन्तु उसी क्षण डाक्टर बोल उठा—आप नहीं जानते मिस्टर हेमचन्द्र कि कुँवर साहब रानी प्रतिभा को कितना अधिक चाहते हैं। अगर उनके जीवन को कुछ हो गया, तो····।

बात के बीच में ही, हेमचन्द्र ने, बिना किसी संकोच के कह दिया—मुझे यह जानने की कोई आवश्यकता नहीं है। तब डाक्टर ने हेमचन्द्र को और अधिक सोचने का अवसर न देकर कह दिया—मैं आपसे ऐसे उत्तर की आशा नहीं करता था। चलिए कुँवर साहब, अब हम लोग चलें।

और कहने के साथ ही दोनों उठकर चल पड़े। हेमचन्द्र ने उसी क्षण फिर सिगरेट जलायी। फिर द्वार के बाहर तक आकर देर तक वह खड़ा-खड़ा डाक्टर और दिलीप की ओर देखता रहा।

× × ×

ग्रीन पार्क में एक नवयुवक पुस्तक हाथ में लिये हुए, बेंच पर बैठा कुछ सोच रहा है। टहलते हुए दिलीपसिंह प्रतिभा के साथ

उधर से निकल रहे हैं। इसी समय दिलीप तो किसी मित्र से बार्तालाप करने के लिये कुछ आगे बढ़ गये हैं, प्रतिभा पीछे रह गई है। नवयुवक की ओर उसकी दृष्टि सहज ही आकृष्ट हो जाती है।

"आप तो यहाँ किसी कालेज में पढ़ते हैं?" प्रतिभा ने पूछा।

"हाँ।"

"नाम जान सकती हूँ?"

"प्रेमचन्द।"

"होस्टेल में रहते हैं?"

"नहीं, मालरोड पर।"

प्रतिभा कुछ सोचती है। एकाएक फिर प्रश्न फूट उठता है—हेमचन्द्र आर्टिस्ट के पास कहीं रहते हैं! "हाँ" के बाद वह कहना चाहता है कि उन्हीं के यहाँ रहता हूँ; किन्तु कह नहीं पाता। नवयुवक के होठों पर मन्दहास झलक उठा है।

एक निःश्वास लेकर प्रतिभा पूछती है—चित्रकला तुमने भी सीखी है?

नवयुवक—नहीं।

प्रतिभा—कविता की ओर प्रवृत्ति होगी।

नवयुवक—नहीं।

प्रतिभा—तब यहाँ बैठकर·······।

"पढ़ता हूँ।"

क्षण-भर बाद प्रतिभा बोली—"कुछ सोच रहे हो, क्यों?"

नवयुवक गम्भीर हो जाता है। कोई उत्तर नहीं देता।

"तुम बड़े अच्छे लड़के हो।" प्रतिभा बोली—ऐसे लड़के मुझे बड़े प्यारे लगते हैं।

खड़े-खड़े प्रतिभा के पैर लड़खड़ाने लगते हैं—सम्हल न

सकने के कारण बेंच के पास वहीं गिर पड़ती है। उसी क्षण दिलीप और उसके वे मित्र दौड़ पड़ते हैं।

× × ×

शयनागार में प्रतिभा के पास बैठा दिलीप उससे बार्तालाप कर रहा है। तीन दिन के बाद आज उसकी तबियत कुछ अच्छी हुई है।

"तुमने कहा था कि वह नवयुवक कल आया था। मुझे उस समय नींद आ गयी थी।"

"हाँ वह आया था। वह आज भी आयेगा। उसे नित्य आने के लिए कह दिया गया है। डॉक्टर साहब का भी कहना है कि यदि उससे बातचीत करने को तुम्हारा जी चाहता हो, तो स्थायी रूप से उसे नियुक्त किया जा सकता है।"

प्रतिभा ने कृत्रिम विरक्ति दिखलाते हुए कहा—नहीं, इसकी कोई आवश्यकता नहीं है।

इसी समय अनुचर ने आकर कहा—वही नवयुवक आया है।

दिलीप—उसको ले आओ।

प्रेमचन्द ने ज्यों ही अन्दर प्रवेश किया, त्यों ही प्रतिभा उठकर तकिये के सहारे बैठ गयी और देखते ही बोली—अच्छा, तुम आ गये। बैठो। फिर-क्षण भर बाद पूछा—तुम्हारे पिता क्या काम करते हैं?

प्रेमचन्द कुछ अस्त-व्यस्त हो जाता है।—"मैं-मैं जानता नहीं, वे कौन हैं—कहाँ हैं।" बड़ी कठिनाई से वह कह पाता है।

दिलीप अवसर देखकर उठकर चला आता है।

"यहाँ आकर बैठो, मेरे पास" प्रतिभा ने इधर-उधर देखते हुए कहा—डरो नहीं। हाँ, आओ, आओ।

प्रेमचन्द और निकट आकर बैठ गया है। उसके भीतर

अनेक प्रकार के विचार उठ रहे हैं। उसकी समझ में नहीं आता, वह क्या बात करे। वह बार-बार प्रतिभा की मुद्रा देखता है। उसे लगता है कि मुझमें कोई विशेषता है, तभी तो ऐसी ऐश्वर्य्य शालिनी रानी का स्नेह मुझको मिल रहा है। किन्तु फिर वह सोचने लगता है—क्या संसार वास्तव में ऐसा मधुर है! बार-बार उसके कानों में शब्द गूँजते हैं—नहीं है, नहीं है। हेमचन्द्र के यहाँ वह पला अवश्य है। किन्तु ऐसा प्यार उसे कहाँ मिला है, जैसा गाय अपने बछड़े से करती है।

प्रेमचन्द को मौन देखकर प्रतिभा बोली—तुम कै भाई हो?

प्रेमचन्द फिर अस्थिर हो उठा। बोला—मैं अकेला हूँ। मेरे कोई नहीं है।

प्रतिभा अपने को सम्हालती हुई बोली—झूठ। ऐसा भी कोई कहता है। जान पड़ता है, पिता-माता से कुछ नाराज हो। लेकिन फिर कभी ऐसा न कहना। अच्छा, अगर मैं तुम्हारी माँ होती, तो क्या तुम ऐसी कठोर बात कह पाते!

इकटक जैसे प्रतिभा के नयनों को देखते हुए, बड़ी कठिनाई से प्रेमचन्द ने कहा—"नहीं"।

तब प्रतिमा ने प्रेमचन्द का हाथ अपने हाथ में लेकर चूम लिया। फिर बोली—तुम नित्य हमारे यहाँ दस-पाँच मिनट के लिए आ जाया करना। समझे? ये लो अपने खर्चे के लिए। तुमको अब से किसी बात की तकलीफ़ नहीं होनी चाहिये।

उसने प्रेमचन्द के हाथ में सौ रुपये का एक नोट रख दिया।

किन्तु जब प्रतिभा ने देखा, नोट ज्यों-का-त्यों रक्खा है, नवयुवक ने उसे छुआ भी नहीं; तो वह बोल उठी—नोट ले लो। इससे बढ़िया कपड़े बनवाना, खाने-पीने और घूमने-पढ़ने में खर्च करना। आवश्यकता पड़े, तो और माँग लेना, भला।

नवयुवक प्रेमचन्द विस्मय और अकल्पित आह्लाद से अस्थिर हो उठा। नोट लेते हुए यकायक उसके मुँह से निकल गया—तुम कौन हो ? क्या····क्या तुम सचमुच मेरी माँ हो ?—माँ—ाँ ाँ !

मातृ स्नेह-हीन प्रेमचन्द का द्रवित स्वर जैसे उस कमरे में गूँजता ही रहा। पहले प्रतिभा ने अश्रु-विगलित स्वर में कहा—मैं तुम्हारी माँ नहीं हूँ—नहीं हूँ। किन्तु फिर बात-की-बात में उसका स्वर कठोर हो पड़ा।—उसने कहा—मैं तुम्हारी कोई नहीं हूँ, कुछ नहीं हूँ। मैं डाकिनी हूँ, पिशाचिनी ! तुम अब यहाँ से चले जाओ। चले जाओ !! जाओ !!!

तत्काल अनेक दासियाँ दौड़ पड़ीं ! प्रेमचन्द भी मर्माहत होकर कोठी के बाहर चल दिया, कुछ उसकी समझ में नहीं आ रहा था। रानी के प्यार ने जितना अधिक उसे प्रभावित किया था, उससे कम भयातुर उसके तिरस्कार ने नहीं किया। वह बराबर यही सोचता था—क्या ये कुछ प्रमाद-ग्रस्त हैं !

किन्तु इस सोच-विचार की श्यामघटा के बीच एक बात फिर भी बिजली की भाँति चमक जाती थी। वह था उसका वात्सल्य, उसकी मिष्ट भाषा।

× × ×

पर्दे की ओट से डाक्टर उस दिन का सारा वार्तालाप सुन रहा था।

उसी दिन रात को वह फिर हेमचन्द्र के यहाँ जा पहुँचा। जाते ही उसने कहा—आज मैं आपका समय नष्ट करने नहीं आया। मैं तो आपके यहाँ से कुछ चित्र खरीदने आया हूँ। दिखलाइये कुछ चित्र।

हेमचन्द्र ने सिगरेट का एक कश लेकर लापरवाही से उत्तर

दिया—अब मैं चित्रकार नहीं रह गया। चित्र बनाने की क्षमता अब मुझमें कहाँ है ! अब तो मैं चित्र देखता भर हूँ।

"तो आपके यहाँ जो बहुत से चित्र थे, उनका आपने क्या किया ?" डाक्टर ने पूछा।

"कहाँ ?" हँसते हुए हेमचन्द्र ने कहा—उस दिन मैंने आपसे कहा था कि पूर्ण हो जाने पर मैं या तो चित्र को बेच डालता हूँ—या नष्ट कर देता हूँ। सो आपको मालूम होना चाहिए कि मैंने जीवन-भर में केवल एक चित्र बनाया है। और मैं अब उसे नष्ट कर डालने पर तुल गया हूँ।

द्वार की ओर के पर्दे से निकलते हुए दिलीपसिंह ने कहा—आप प्रमाद की दशा में हैं। आपको अब अपना इलाज कराना चाहिए।

हेमचन्द्र ने उत्तर दिया—हो तो रहा है।

डाक्टर ने पूछा—सचमुच हेमबाबू, उस दिन से मैं आपको कुछ बदला हुआ देख रहा हूँ। क्या बात है ? सच-सच बतलाइये।

हेमचन्द्र ने कोई उत्तर नहीं दिया।

दिलीप ने पूछा—मालती को आप जानते हैं ?

हेमचन्द्र ने विवर्ण होकर कहा—कौन मालती ? फिर कृत्रिम दृढ़ स्वर में कह दिया—मैं किसी मालती को नहीं जानता।

डॉक्टर ने पूछा— आपने विवाह तो किया था न ?

हेमचन्द्र—विवाह ! हाँ, किया था।

"लेकिन उससे कोई सन्तान नहीं हुई।"

"नहीं।"

"अन्त में एक लड़का आपको पालना पड़ा।"

"हाँ।....लेकिन नहीं, मेरी स्मरण-शक्ति मुझे धोखा दे रही है। विवाह मेरा नहीं हुआ।"

"ख़ैर, तो एक लड़का तो आपको पालना ही पड़ा था।"

"हाँ, पर, इससे क्या हुआ ?"

"होने की बात जाने दीजिये हेमबाबू। अब यह बतलाइये कि वह लड़का आपको कहाँ मिला था ?" "अनाथालय में न ?"

"हाँ।"

"उसकी माँ विधवा थी ?"

आश्चर्य्य से आँखें फाड़-फाड़कर देखते हुए हेम बोला— विधवा ! आप उसे विधवा कहना चाहते हैं !

"तो साफ़-साफ़ कहिये न कि वह अविवाहिता थी" डॉक्टर ने कहा।

अतिशय शिथिल-ध्वस्त होकर तब हेम ने कह दिया— "नहीं, आप पहले ठीक कह रहे थे। मैं जीवित कहाँ हूँ, मैं तो मरा हुआ हूँ न !

एक तृण

सड़क बहुत खराब हो गयी है। स्थान-स्थान पर गड्ढे पड़ गये हैं। धूल उनमें ऊपर तक इतनी भरी हुई है कि गड्ढों की गहराई छिप गई है। ऊपर से देखने में मालूम ही नहीं हो पाता कि इस धूल का अन्तर भी है कुछ—धोखा भी इसमें आच्छन्न है। लारी पर कई स्त्री-पुरुष, वृद्ध और युवक बालक तथा बालिकाएँ गंगा-दशहरा का मेला करने जा रही हैं। सवारियाँ इस लारी पर क़ायदे से चौबीस ही आ सकती हैं, किन्तु संख्या इनकी तीस पर जा पहुँची है। दो चार फ़र्लांग इसी सड़क पर किसी तरह पार कर लेने के बाद बनवारी बोल उठा—"मिस्टर डेविड, यह सड़क और

धानी भयकातर होकर बनवारी से लिपट गया।

कितनी दूर तक इस तरह गयी है। मुझे डर लगता है, कहीं दुर्घटना न हो जाय।"

डेविड बहुत होशियार ड्राइवर है। वह कलकत्ते में ड्राइवरी करता रहा है। संयोग से इधर अपने भाई के ब्याह में आया था। तब से यहीं रम गया है। नौकरी भी उसकी लग गयी है। लारी के मालिक उसके काम से खुश रहते हैं। बनवारी की बात सुनकर बोल उठा—नम्बरदार, मुझे पता नहीं था कि यह सड़क इतनी खराब हो गई है। नहीं तो मैं खुद इससे आना पसन्द न करता। रही खतरे की बात—तो वही मैं भी सोच रहा हूँ। दर-असल जोखिम का काम तो है ही, लेकिन घबराने की बात नहीं है। मैं बहुत सहूलियत के साथ निकाल ले जाऊँगा। ये गड्ढे शायद डेढ़ मील तक ही मिलेंगे। उसके बाद सड़क बहुत साफ़-सुथरी है।

दो चार मिनट और बीते।

परन्तु इस बीच बनवारी के पास बैठी हुई एक लड़की—धानी—उसके कन्धे से लग गई।

उन दिनों दिन-भर लू चलती थी। धूप इतनी अधिक तेज़ होती थी कि दूर कहीं आना-जाना मुश्किल हो जाता था। इस-लिए रात में चलने की व्यवस्था की गई थी। चन्द्रमा अस्त हो चुका था। रात्रि का अन्धकार खूब घना था। वैसे तो इस लारी के भीतर भी रोशनी का प्रबन्ध हो सकता था, पर यह बहुधा दिन में ही चलती है। रात में कहीं ले जाने का संयोग ही कहाँ आता है। फिर सोच लिया गया कि कुल डेढ़-दो घंटे का तो सफ़र है। लालटेन ले चलने का झंझट कौन पाले?

हाँ, तो धानी कई बार बनवारी के कन्धे से लग-लगकर एक बार अत्यन्त भय कातर होकर उससे लिपट गई।

तुरन्त बनवारी बोल उठा—मिस्टर डेविड आपकी लारी से हम लोगों की जान ज्यादा कीमती चीज़ है। आप लारी खड़ी कर दीजिये। हम लोग थोड़ी दूर पैदल ही चल लेंगे।

तब डेविड ने लारी खड़ी कर दी। निश्चित हुआ कि वृद्ध लोग, पुरुष हों कि स्त्री, जो भी हों, चाहें तो बैठे रहें। बाक़ी थोड़ी दूर पैदल ही चल लें।

लारी आगे-आगे चलने लगी। पीछे कुछ पुरुष और स्त्रियाँ पैदल चलने लगीं।

सबेरा होने में अब भी देर है। अँधेरी रात की कालिमा खूब सजग है। लोग यद्यपि आगे-पीछे बातें करते हुए जा रहे हैं, किन्तु दायें-बायें और आगे दीख पड़ते हुए घने छाया-तरुओं और बगीचों में फैला हुआ अन्धकार, बातों का सिलसिला टूट जाने पर एक चिरगहन सन्नाटा और वृक्षों का मर्मर शब्द—यह सब मिलकर इस ग्राम्य-मंडली के लिए जितनी नवल कुतूहल की वस्तु है, उतनी ही अशिक्षित और अर्ध-शिक्षित किशोर और किशोरियों के लिये भय और कातरता की भी। और लोग आगे बढ़ते जाते हैं, किन्तु धानी बनवारी के साथ-साथ चल रही है। कभी जो कोई ठूँठ अथवा कटे पेड़ का अवशिष्टांश दूर से काला-काला चुपचाप खड़ा दीख पड़ता है, तो धानी सिकुड़ जाती है, सिमट जाती है और बनवारी के पास आकर बिल्कुल उसे छूती हुई चलने लगती है।

धानी की सखी अपनी माँ के साथ-साथ आगे जा रही है। उसने एक बार पुकारा, कहा—धानी।

धानी बोली—क्या है यमुना ?

यमुना—यहाँ आकर मेरे साथ क्यों नहीं चलती ?

"आती तो हूँ।" धानी बोली—"बनवारी भैया के साथ।"

धानी उत्तर देकर चुप होगई। उसकी उस चुप्पी और उस क्षण की मुद्रा को अपने से मिलाकर तुलना करके, बनवारी देख नहीं सका, बोल नहीं सका। तो भी एक बार धानी फिर बनवारी के निकट आकर, बिल्कुल उससे लगकर चलने लगी और क्षण भर के उपरान्त किसी काली-सी चीज़ को लांघने में कुछ ठिठुक-कर आगे बढ़ रहे बनवारी के बायें हाथ का उसने सहारा लेलिया, तो बनवारी को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे धानी के होठों पर चिटकी कली का-सा तड़ित हास झलक उठा हो।

बनवारी इस मंडली के गाँव का निवासी नहीं है। वह तो संयोग से दो-चार दिन के लिए यहाँ आ गया है। आगे कभी फिर यहाँ उसका आना हो सकेगा कि नहीं, वह नहीं जानता। वह अविवाहित है, यह ठीक है। किन्तु विवाह के सम्बन्ध में वह स्वतन्त्र तो है नहीं।

तो बनवारी के मानस में जो अथाह जलराशि है, उसपर आज धानी का यह तृण अकस्मात् उतराने लगा है। कहाँ रक्खे वह इस तृण को।

थोड़ी देर के मौन के बाद बनवारी बोल उठा—तुमको डर तो नहीं लगता, धानी ?

"ना, तुम चल जो रहे हो मेरे साथ" कहकर धानी चुप रहगई।

दोनों और थोड़ी दूर चले होंगे कि आगे सब लोग इकट्ठे हो गये। मालूम हुआ, अब सड़क ठीक है। सब लोग लारी पर चढ़ने लगे। यमुना बोली—अब के मेरे पास बैठना धानी।

अब अन्धकार थोड़ा कम हो गया था। उषा की उज्ज्वलता चारों ओर फैल रही थी। उसी अभिनव आलोक में धानी ने यमुना की बात पर जो बनवारी की ओर देखा, तो उसने कह दिया—हाँ, ठीक तो है। तुम वहीं बैठो धानी।

बनवारी भी अन्त में बैठ गया। किन्तु अबकी बार लारी के अन्दर पैर रखते हुए उसने अनुभव किया—एक तृण उसके मानस पर तैर रहा है, हरा और कोमल।

× × ×

बनवारी बाज़ार जा रहा था। कुछ खिलौने वह आज लाना चाहता था अपने छोटे भानजे के लिए। लम्बी शुभ्र घूमरदार उसकी धोती, चप्पल से निकले अँगूठे को छूती जाती थी। अर्धबाहुओं की कमीज़ उसने पहन रक्खी थी। सिर के केशों में कंघी लगाना शायद वह भूल गया था। सभी बालों के छल्ले से बन गये थे। सबेरे उठने के साथ ही एक गीत उसके अन्तर से उभर रहा था। कुछ गुनगुनाता हुआ वह चला जा रहा था। दृष्टि उसकी मार्ग की ओर ऊँची स्थिर न होकर कुछ निम्न थी। वह देख नहीं सका कि उसके सामने कौन आ रहा है? किन्तु जब कई स्त्रियों के साथ आगे-आगे एक नवयुवती उसे आती देख पड़ी और बिल्कुल सामने आ गई, तो वह रास्ते के एक ओर हो गया।

साथ ही एकाएक उसके मुँह से निकल गया—अरे, धानी तुम हो!

और इतना कहकर एक बार उसकी आँखें आगे बढ़ गईं, क्योंकि वह स्वतः भी आगे बढ़ चुका था।

धानी उस क्षण तो कुछ नहीं बोल सकी; किन्तु दस कदम आगे बढ़ने पर एकाएक मुड़कर एक स्थान पर ज़रा सी ठहरती हुई कहने लगी—कब जा रहे हो, बनवारी भैया?

यह लो। बनवारी अभी सोच ही रहा था कि धानी ने कोई जवाब नहीं दिया। शरमा गई वह अन्य स्त्रियों के साथ—किन्तु....?

एकाएक बनवारी अटक गया। वहीं स्थिर रहकर ज़रा सी

गर्दन घुमाकर उसने कहा—हाँ जा रहा हूँ धानी। आज ही शाम की ट्रेन से।

धानी उत्तर पाकर चुपचाप चल दी। बनवारी भी आगे बढ़ गया।

बनवारी बाजार से अपने भानजे के लिए खिलौने ले आया। खिलौने ढेर-के-ढेर पाकर शिशु उछलता-कूदता हुआ बनवारी के गले से, पैरों और उसकी धोती से पीठ और कमर से लिपट गया। बनवारी का जी उसके खेल और तोतली वाणी में रम गया।

तीसरे पहर वह चलने को हुआ। बैलगाड़ी पर उसका सूटकेस और हालडोल रख दिया गया और वह बढ़ा अपनी बहिन का चरण स्पर्श करने, तो उसे प्रतीत हुआ, कोई आ रहा है। बाहर चलने को वह अब घूमा ही था कि देखा—यमुना के साथ धानी खड़ी है। बनवारी ने एक बार उसके मुख को देखा और फिर आगे बढ़ गया। कुछ कह न सका वह। किन्तु उसकी बहिन के पीछे चलती हुई धानी तुरन्त बोल उठी—अब कब आओगे बनवारी भैया? और उसी समय यमुना ने धानी के कान में कुछ कह दिया।

बनवारी दालान और दरवाज़ा पार करते हुए कुछ बोला नहीं। केवल कुछ सोचता रहा। बहिन उसकी दरवाज़े के भीतर ही खड़ी रह गई। और धानी बाहर आती-आती रुक गई। तब बनवारी ज़रा-सा थिर हो गया। देखा उसने, धानी खड़ी हुई उस की ओर देख रही है। उसने सोचा—ग्राम्य-संस्कृति में पली भीता हरिणी सी धानी और कह ही क्या सकती थी—पूछ ही क्या सकती थी? हाँ, नयन उसके स्थिर हैं और चमक रहे हैं; जल के कण जो उनपर आ गये हैं।

बनवारी क्या उत्तर दे, क्या वादा करे, तत्काल कुछ सोच नहीं सकता—तै नहीं कर सकता। तभी वह चुप है और चप्पल से भूमि की मिट्टी कुरेद रहा है।

तब उसकी छोटी बहिन ने भी वही प्रश्न कर दिया—हाँ, बतलाया नहीं भैया, अब कब आओगे?

"आने की बात तुम, जानती हो मणि—मैं इस समय कैसे बतला सकता हूँ! छुट्टियाँ समाप्त होते ही मुझे इलाहाबाद चला जाना होगा फिर फागुन चैत तक परीक्षा देनी होगी। तब कहीं उसके बाद मौका मिल सकेगा।" बनवारी कह तो गया, किन्तु इतनी-सी बात भी स्वाभाविक गति से वह कह नहीं सकता। बीच-बीच में अटका भी, कुछ शब्दों को तो अस्पष्ट रूप से ही कह पाया।

किन्तु उसी क्षण यमुना द्वार के बाहर आ गयी। पैरों पर उसके चाँदी की डायमन्ड कट की मछलियाँ चमक रही हैं अँगुलियों में पिरोई हुई। व्याह उसका हो चुका है। कानों में सोने के झूमर और गले में कंठश्री सुशोभित है। वह बोली—और वह जो बड़े दिन की छुट्टियाँ एक साथ दस बारह दिनों तक चलती हैं, तब भी तो आप आ सकते हैं। चाहे दो ही दिन को आयें।

"आ तो सकता हूँ बहिन" बनवारी बोला, "पर आने की बात सोचकर भी कभी-कभी रह जाना पड़ता है। मित्रों के साथ भाँति-भाँति के कार्य-क्रम बनते हैं और वे लोग इतना विवश कर देते हैं कि पहले से सोचा और तै किया हुआ सब बेकार हो जाता है। तो भी अपनी ओर से मैं आने की पूरी चेष्टा करूँगा, मणि।"

इस तरह बनवारी अपने घर चला आया।

× × ×

सचमुच बड़े दिन की छुट्टियों में बनवारी मणि के यहाँ जा नहीं सका। धानी नित्य दोनों पहर उसके यहाँ जाती और पूछती—आये नहीं भौजी बनवारी भैया। मणि कह देती, कहाँ आये बिटिया, आते तो तुमसे छिपे रहते! किन्तु फिर जब एक बार धानी ने ऊपर लिखित प्रश्न किया तो मणि बोली—हाँ, नहीं आये बिटिया। मैं तो जानती थी, उनका आना हो नहीं सकता। बी० ए० की पढ़ाई बड़ी कठिन जो होती है।

"हूँ, जैसे इन छुट्टियों में भी वे रात-दिन पढ़ते ही रहते होंगे।" धानी ने इस प्रकार मुख विचकाकर कहा कि मणि की बात पर प्रकट किये हुए उसके अविश्वास में भी एक माधुरी झलक पड़ी।

मणि थोड़ी देर उसकी भाव-भंगी देखकर मौन रही। फिर उसकी ठुड्डी की तर्जनी से ज़रा-सा छूकर कहने लगी—अच्छा, सच कहना बिटिया, शरमाना नहीं, मेरे ये छोटे भैया तुम्हें कैसे लगते हैं?

"हूँ, पूछती हो, कैसे लगते हैं! मैं क्या जानूँ कैसे लगते हैं। जैसे हैं, वैसे ही लगते भी हैं।" कहती हुई धानी ज़मीन को नख से कुरेदने लगी।

मणि हँसने लगी। वह बोली—तुम लजा गईं बिटिया। मैं तो हँसी कर रही थी। मेरे कहने का तुम बुरा मान गईं! बोलो, इधर देखो—तदनन्तर उपर्युक्त बात कहने के साथ ही मणि ने धानी के अवनत मुख को जो थोड़ा ऊपर उठा दिया, तो वह देखती क्या है कि उसकी आँखों में आँसू झूल रहे हैं और गिरना ही चाहते हैं।

फिर तो धानी से लिपट गई मणि। उसे वक्ष में भर कर उसके आँसू पोंछती हुई कहने लगी—मैं जानती थी बिटिया,

तुम मेरे भैया को....। मैं तुम्हें बचन देती हूँ बिटिया, मैं किसी से कहूँगी नहीं। हाँ, मैं अम्मा से कहूँगी कि भैया का ब्याह....। मैं पूरी कोशिश करूँगी। विश्वास करो मुझ पर। रोओ मत।

लेकिन धानी की सिसकियाँ रुकती न थीं।

× × ×

गिरधारी और मणि में बातचीत हो रही थी। माँ भी पास ही खड़ी हुई थीं। गिरधारी कह रहा था—ऐसा नहीं हो सकता मणि। तुम जानती हो, हम लोगों के सम्बन्ध कितनी छानबीन के साथ होते हैं। तुमको यह भी पता होना चाहिए कि समाज अपनी मर्यादा को लेकर ही स्थिर है। जहाँ मर्यादा भंग हुई, वहाँ रह क्या गया? गोपालस्वरूप की विधवा बहिन आज भी एक लाला के यहाँ बैठी हुई है, उनका चलन-व्यवहार अपने भाई लोगों से कबका छूटा हुआ है। ऐसी दशा में उनकी लड़की के साथ बनवारी का विवाह कैसे हो सकता है?

माँ ने भी गिरधारी का ही पक्ष लिया। बोलीं—तुझे कुछ सूझता भी है मणि, जिस लड़की की बुआ ने विधवा होने पर झट से अपना मुँह काला कर लिया, वह लड़की भी कौन जाने कैसी हो? न गिरधारी, तू मणि के कहने पर कभी न आना। मैं अपने छोटे का विवाह ऐसी जगह किसी तरह नहीं करूँगी—किसी तरह नहीं।

इस प्रकार मणि धानी के लिये कुछ कर नहीं सकी।

बनवारी से भी बातचीत हुई। माँ ने कहा—मैंने एक लड़की देख ली है, बड़ी गुणागरी और सुन्दर है। चाहे तो तू भी देख आ सकता है।

गिरधारी भी बोला—अब के तेरी शादी कर देनी है छोटे। सुनता है कि नहीं? मैं अब और ज्यादा रुक नहीं सकता।

अम्मा को देखते ही हो। आजकल साँस उखड़ी हुई रहती है, कौन जाने कब चल दें। मैं भी और कितने दिन काम-काज लायक रह सकता हूँ। इधर कुछ दिनों से मुझे भी हृद्-रोग ने दबोच रक्खा है। कौन जानता है, कब क्या हो जाय?

किन्तु बनवारी ने इस विषय पर बहुत दिनों तक अपना कोई मत प्रकट नहीं किया। वह केवल इन लोगों की बातें सुनता भर रहा। धानी के सम्बन्ध की सारी बातें वह मणि से सुन ही चुका था। किन्तु कुछ दिनों के बाद जब बात बिलकुल उसके सिर पर आ गई, तो उसने कह दिया—मैं अभी शादी वादी के चक्कर में नहीं पड़ना चाहता भैया। पहले मुझे एम० ए० और फिर डी० लिट० करना है और अपने लिये जीविका की कोई अच्छी जगह प्राप्त करनी है। उसके बाद देखा जायगा। आप अपने और अम्मा के बारे में जो अशुभ कल्पनाएँ कर रहे हैं, वे सब मेरी समझ में बहुत बढ़ाकर सोच ली गई है। मैं अपने आपको ऐसा अभागा नहीं मानता।

× × ×

सावन के दिन थे और नागपंचमी अत्यन्त निकट आ रही थी। संयोग से दो दिन के लिये बनवारी घर आया हुआ था। माँ ने कहा—छोटे, मणि को लिवाने नहीं जायगा?

"क्या कहा? मैं मणि को लिवाने जाऊँ! खूब! जैसे मैं इसीलिये आ गया हूँ। बलवन्त तो अब भगवान की दया से सयाना हो गया है। उसीको क्यों नहीं भेज देती!"

यह बलवन्त गिरधारीलाल का बड़ा लड़का और बनवारी का भतीजा है।

माँ इस पर बोल उठीं—भले तुझसे कहा जाता है, छोटे। मेरा बबुआ कभी एक दिन को भी मेरी पलकों से ओट हुआ है।

माना कि बुआ को वह लिवा ला सकता है, किन्तु रात को जब उसे अम्मा की न सही मेरी ही याद आयेगी, तब उसे रोते-रोते चुप कौन करेगा ? मणि को लेने सदा तू ही जाता रहा है। सो इस बार भी तुझी को जाना पड़ेगा। तेरी यह टाल-मटूल मैं एक न सुनूँगी।

और बनवारी सोचने लगा—अच्छा होता, वह इस अवसर पर इलाहाबाद ही रहता।

विवश होकर दूसरे दिन वह मणि के यहाँ जा पहुँचा।

रास्ते-भर वह सोचता रहा—वह कर ही क्या सकता था, उसका वश ही क्या था ? मनुष्य इतना स्वतंत्र हो कहाँ सका है ? जो वह सोचता है वह पूरा कहाँ हो पाता है ? किन्तु थोड़ी देर बाद घूम-फिरकर पुनः कुछ विचार उसके मस्तिष्क में टकराने लगते—तुमने एक पवित्र आत्मा के साथ प्रवञ्चना की है ; उसको एक भरोसा देकर एक विश्वास दिलाकर उसका निर्वाह नहीं किया ; उसके आत्म-दान को एकबार स्वीकार करके पुनः उसे पदाघात से कुचल डाला है। तुम पापी हो बनवारी। प्रेम जैसी पवित्र वस्तु का गौरव तुम्हारे ही द्वारा भूलुंठित हुआ है। तुम कायर हो, तुम्हारे मुख पर ज्योति की झलक नहीं है—एक अमिट कालिमा पुत गई है। तुम उसे छुटा नहीं सकते—तुम में पुरुषोचित साहस का अभाव है। तुमने अपनी समस्त शिक्षा, नवयुग के जागरण-संदेश और वर्तमान सभ्यता का अपमान किया है। तुम पशु हो, पामर और नीच हो।

मणि का चरण-स्पर्श करके बनवारी झट से बहनोई के पास जाकर अभिवादन के अनन्तर कहने लगा—मुझे आज ही घर लौट जाना है शुक्लजी, कल मुझे अपना क्लास अटैंड करना है।

जैसे भी हो सके, आज ही रुख़सत कर दीजिये। मैं ठहर नहीं सकता। बहुत मजबूरी है।

परन्तु शुक्लजी ने उसकी बात पर हँस दिया। बोले—तुम हमेशा घोड़े पर सवार होकर आते हो! अभी-अभी आये हो, बैठो, खाओ, पिओ, आराम करो। कल प्रातःकाल बीबी-बच्चों को भी लिवाये जाना।

किन्तु बनवारी ज़िद पकड़ गया। बोला—नहीं शुक्लजी, मैं आज ठहर नहीं सकता—किसी तरह नहीं कल अगर मैं अपना क्लास अटैंड न कर सका, तो मेरा बड़ा हर्ज हो जायगा।

पर शुक्लजी फिर मुसकराते हुए कहने लगे—अच्छा तो बाबू साहब, पहले अपनी बीबी को तो तैयार करो। मैं भी तो देखूँ, वह आज जा कैसे सकेंगी!

बनवारी तब भीतर गया। बोला—मणि, लो बस, चट-पट तैयार हो जाओ। मुझे आज ही घर पहुँचना है, आज ही। और कल सबेरे की गाड़ी से इलाहाबाद चला जाना है। मैं रुक नहीं सकता। मैंने शुक्लजी को राज़ी कर लिया है।

"ग़लत बात है।" मणि अत्यन्त गम्भीर होकर बोल उठी—"पहले जल-पान करलो। उसके बाद सबसे पहले तुम्हें धानी के घर जाना होगा। वह आजकल बहुत रुग्ण रहती है। भाग्य से तुम जब आ गये हो, तो उसे देखते तो जाओ। भगवान न करें कि किसी दुश्मन को भी कभी इतना दुःख मिले। कितने विवाह उसके तै होते-होते रह गये। पर उसने भाई-बहिन और माँ की एक बात न मानी। बराबर वह यही जवाब देती रही—मेरा विवाह तो एक बार जिसके साथ होने को था, हो गया। अब मैं दूसरा विवाह करके भगवान और उनके सामने अपराधिनी नहीं बनना चाहती। जाओ, मैं कहती हूँ, अभी जाओ। क्या तुम्हारे

हृदय नहीं है भैया ? भवानी पार्वती-सी निर्मल उस कुमारी कन्या की यह तपस्या, उसका यह आत्म-त्याग, क्या तुम्हारे लिए कोई चीज़ नहीं है ? मैं नहीं जानती थी कि..........।"

"बस मणि, अब और कुछ मत कहो !" बनवारी आहत मन-प्राण लेकर बिना कुछ खाये-पिये धानी के घर की ओर चल दिया।

× × ×

चल तो रहा था बनवारी, किन्तु उसके पैर नहीं उठ रहे थे। उसे उस सुनसान गली में चलते हुए ऐसा जान पड़ता था, जैसे वह एक भागा हुआ राजबन्दी है, एक बार उस पर किसी की भी दृष्टि पड़ने भर की देर है। उसके पैरों में बेड़ियाँ पड़ी हैं। वह भाग नहीं सकता, छलांग मारकर ऊँची-नीची जगह झट से पार नहीं कर सकता। कोई उसका सहायक नहीं है, अपना नहीं है। लोग उसे देखकर घृणा से मुँह फेर लेंगे। उसने हत्या की है, उसका मुख देखने से महा पातक लगता है।

धानी चुपचाप पलँग पर पड़ी हुई थी। माँ उसकी, और भाभी और बहिन उसे घेरे हुए थीं। भाभी पंखा झल रही थी। माँ आँखों में आँसू और कलेजे में आग्न भरे हुए कह रही थीं—हाय मेरी धानी, मेरी अन्नपूर्णा ! आज तूने कुछ भी नहीं खाया, दूध भी नहीं पिया ! तू इस तरह भूखी हो चली जायगी। ना मेरी रानी, मैं तुझे इस तरह न जाने दूँगी !

बनवारी कपाट की ओट में खड़ा-खड़ा सुन रहा था।

बड़ी बहिन बोल उठी—अरी अम्मा, अब तो हाथ-पैर भी ठण्डे हो गये। अब इसे धरती माता का शरण दो।

बनवारी चुपचाप लौट आया, पहले धीरे-धीरे बहुत सम्हल कर, फिर लम्बे लम्बे डग भरता हुआ। किसी तरह उसने गाँव

पार किया। फिर वह इतने ज़ोर से दौड़ पड़ा कि उसकी आँखें यह भी न देख सकीं कि आगे है क्या !

× × ×

लोग धानी की अर्थी लिये जा रहे थे। सड़क पर से जब वे आ निकले दाहिने ओर, तो देखते क्या हैं एक कैथा के पेड़ की जड़ के पास, श्वेत वस्त्रों से आभूषित व्यक्ति चुपचाप चिरस्थिर पड़ा हुआ है। ख़ून से तर उसकी क़मीज़ है और नाक तथा मस्तक से रक्त बह रहा है।

दो-एक व्यक्ति उसको पहचानने का प्रयत्न करने लगे। किन्तु मुख उसका इतना विकृत हो गया था कि वे किसी निश्चय पर पहुँच नहीं सके। तब एक व्यक्ति बोल उठा—चलो भाई, अर्थी दूर जा पहुँची। किसको किसको देखा जाय, यह तो संसार ठहरा।

वनवारी जीवन-पथ में तो धानी का साथ न दे सका, अब मृत्यु-पथ में साथ देने चला है !